हमारे गाँव और किसान

लेखक

चौधरी मुख्त्यारसिंह

सम्पादक

कृष्णचन्द्र विद्यालङ्कार

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

शाखायें:—दिल्ली : लखनऊ : इन्दौर

प्रकाशक,
मार्तण्ड उपाध्याय, मन्त्री,
सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली।

संस्करण
जनवरी १९४० : २०००
मूल्य
आठ आना

मुद्रक,
एम० एन० दुलल,
फेडरल ट्रेड प्रेस,
नया बाज़ार, दिल्ली।

भूमिका

मुझे बड़ा हर्ष है कि यह पुस्तक मेरी दोनों अंग्रेजी पुस्तकों—'Rural India' और 'Agrarian Relief' के आधार पर लिखी जाकर पाठकों के सामने रक्खी जा रही है। प्रायः सभी भावों का, जो मेरी उपरोक्त दोनों पुस्तकों में दरशाये गये हैं, इस पुस्तक में समावेश है। मुझे यह देख कर बड़ी प्रसन्नता होती है क आज सभी सरकारें इस बात का उद्योग कर रही हैं कि किसी न किसी प्रकार किसान की उपस्थित असन्तोषजनक अवस्था को सुधारा जाय। परन्तु कार्य-कर्ताओं के सामने किसान की सच्ची अवस्था का चित्र तथा उसको बदलने के तरीकों का पूरा-पूरा ब्योरा न होने से पूरी सफलता नहीं हो रही है। मैंने इस अभाव को पूरा करने के लिए ऊपर की दोनों पुस्तकों को लिखा था। पहिली पुस्तक में किसान की अवस्था और उसको अच्छा बनाने के उपायों का वर्णन था और दूसरी पुस्तक में अन्य देशों ने किन-किन तरीकों से काम लिया है, यह लिखा गया था। इस पुस्तक में दोनों पुस्तकों के भावों को एक स्थान पर ले आया गया है और जो आंकड़े पुस्तक के पुराने होजाने से पुराने होगये थे, उनको ठीक कर दिया गया है। मुझे आशा है कि हिन्दी जानने वाले पाठक इस पुस्तक को अपनायंगे और पुस्तक का खूब प्रचार हो सकेगा।

यह कार्य मेरे लिए असम्भव था, यदि मेरे मित्र श्री कृष्णचन्द्र जी विद्यालंकार पुस्तक को तैयार करने और दोनों पुस्तकों के भावों को एक स्थानपर ले आने का कार्य न करते। मैंने पुस्तक की सामग्री तथा प्रूफ देखने का कार्य किया है। यद्यपि

कहीं-कहीं ऐसी बातें लिखी गई हैं, जिनसे मैं सहमत नहीं हूँ तथापि उससे पुस्तक की शोभा कुछ बढ़ती ही है। मत-भेद तो दुनिया में रहेंगे ही और ऐसे बड़े विषय पर तो मत-भेदों को होना स्वाभाविक ही है। मैं अपने मित्र श्री कृष्णचन्द्रजी का इस परिश्रम के लिए बड़ा आभारी हूँ, यदि वह इतना परिश्रम न करते तो इस पुस्तक का पाठकों के हाथों तक पहुँचना असम्भव था। मुझे विश्वास है कि इस पुस्तक से मेरे भाव जनता तक पहुँचेंगे, और वे उन भावों का न केवल मनन करेंगे, प्रत्युत उन्हें कार्य में परिणत कर किसान की अवस्था को उत्तम बनाने का प्रयत्न करेंगे। मैं अपने तथा अपने मित्र के . रश्रम को सफल समझूंगा, यदि मेरा दृष्टिकोण सरकार तथा जनता तक पहुँच कर किसान की अवस्था सुधारने में सहायक हो सके।

दारौला (मेरठ) —मुख़्त्यारसिंह

प्राक्कथन

इस पुस्तक के योग्य लेखक ने इसका प्राक्कथन लिखने के लिए मुझे कहकर मेरा सम्मान ही किया है। मैंने यह सारी पुस्तक प्रारम्भ से अन्त तक पढ़ी है और मैं यह निस्संकोच कह सकता हूँ कि यह बहुत विद्वत्तापूर्ण और प्रामाणिक पुस्तक है। सबसे पहले स्वर्गीय दादाभाई नौरोजी ने पिछली सदी के पूर्वार्ध में भारतीय किसान की दरिद्रता और उसके सुधार की आवश्यकता की ओर देश का ध्यान खींचा था। उसके बाद भारतीय किसान के सम्बन्ध में बहुत सा साहित्य निकला है। यह पुस्तक उस साहित्य में अपना एक खास स्थान रखती है।

लेखक खुद एक काश्तकार हैं, उससे उन्हें बहुत बड़ी सुविधा हुई है। वह काश्तकारों ही में पैदा हुए और उन्हीं में उनका पालन-पोषण हुआ। इसलिए उन्हें छोटे-छोटे किसानों व जमीदारों, दोनों में रहने-सहने और मिलने-जुलने का समय मिला। किसानों की तकलीफों को उन्होंने अपनी तकलीफ समझा और उनकी चिन्ताओं व दिक्कतों को अपनी चिन्ता व दिक्कत माना। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि उनके हृदय में किसानों की दिन-प्रतिदिन गिरती हुई हालत को देखकर वेदना उत्पन्न हो और इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि इस पुस्तक में उन्होंने किसानों के बारे में अपनी सब वेदना उंडेल दी हो।

लेकिन इस पुस्तक के लेखक निराशावादी नहीं हैं। यद्यपि स्थिति अत्यन्त निराशाजनक है, फिर भी वह कभी असहायता या दीनता का भाव अपने दिल में नहीं लाते। वह उद्योग पर विश्वास करते हैं, भाग्य पर नहीं। उन्होंने अपने किसान बन्धुओं की

ग़रीबी के मूल कारणों का अध्ययन करने में अपनी उम्र के बहुत से साल गुजार दिये हैं। किसानों की समस्या का उन्हें प्रत्यक्ष ज्ञान था ही। उस ज्ञान को उन्होंने विदेशी और देशी विद्वानों द्वारा लिखे एतद्विषयक बहुत अधिक साहित्य को पढ़कर और भी बढ़ा लिया है। उन्होंने बहुत ध्यान से यह अध्ययन किया है कि पिछले दशकों में दूसरे मुल्कों ने किस तरह साइंस व सरकारों की सहायता से खेती-बारी के बारे में तरक्की की है। अपने विशाल अध्ययन, चिन्तन और अनुभव के परिणामस्वरूप लेखक ने कुछ ऐसे उपाय भी बताये हैं, जिन पर उन्हें पूर्ण विश्वास है कि उनसे किसान की हालत बहुत सुधर जायगी।

इस पुस्तक के अध्ययन से मालूम हो जायगा कि इन तमाम उपायों का निर्देषण करने का एकमात्र उद्देश्य लेखक के दिल में भारतीय किसान की अवस्था को सुधारना है। सिर्फ़ उसी उद्देश्य को सामने रखकर लेखक ने उन सामान्य प्रश्नों पर भी विचार किया है, जिनका किसान की आर्थिक समृद्धि या अवनति से सीधा सम्बन्ध है, जैसे—मुद्रा, विनिमय, बैंक-दर, और सरकारी कर्ज़ की नीति। लेखक ने देश का खर्चीला शासन-प्रबन्ध, सेना पर भारी व्यय आदि राजनैतिक प्रश्नों को जान-बूझ कर अलग रक्खा है, यद्यपि इन बातों का भी किसान की स्थिति पर निस्संदेह भारी प्रभाव पड़ता है।

लेखक जिन निष्कर्षों पर पहुँचा है, उनके लिए बहुत से कारण भी उसने पाठकों के सामने दिये हैं। प्रत्येक विषय की प्रतिपादन शैली इतनी अधिक वैज्ञानिक और विचारपूर्ण है कि ज्यों-ज्यों पाठक आगे बढ़ता जाता है, उसकी दिलचस्पी भी बढ़ती जाती है। और जब वह पुस्तक के अन्तिम अध्याय तक पहुँचता है तब वह यह समझ सकता है कि किसान के दृष्टिकोण से इस पुस्तक में रक्खी गई सिफारिशें ही वर्तमान परिस्थितियों

और आशाओं को देखते हुए सबसे अधिक उपयुक्त हैं।

संभव है कि इस पुस्तक के पाठक लेखक की किसी सम्मति से सहमत न हों, फिर भी हरएक पाठक इससे तो अवश्य सहमत होगा कि लेखक ने हिन्दुस्तानी किसान की ग़रीबी की समस्या पर क्रियात्मक और सर्वांगीण दृष्टिकोण से विचार करके देश की बहुत बड़ी सेवा की है। मुझे पूरी आशा है कि किसान के मामले को इतने जोरों के साथ सामने रखने का यह परिणाम तो जरूर होगा कि किसान की उन्नति करने के राष्ट्र-व्यापी आन्दोलन के प्रति लोकमत जाग्रत हो जायगा। किसान की उन्नति के लिए जिन तरीकों का निर्देश लेखक ने किया है उन पर और दूसरे अनुभवी तथा विद्वानों द्वारा निर्दिष्ट तरीकों पर अमल करके किसान के सुधारने का आन्दोलन भी सारे देश में जोर पकड़ जायगा। आज का समय ऐसे आन्दोलन के लिए बहुत उपयुक्त दीखता है। दुखित किसान की गिरती हुई हालत देखकर इस समय सर्वसाधारण जनता का दिल बहुत बेचैन हो रहा है। उसकी हालत सुधारने की अनेक प्रकार की चर्चाएं आजकल चल रही हैं। रूस की पंचवर्षीय योजना की अद्भुत सफलता ने सरकारी अफ़सरों को बहुत प्रभावित किया है। अनेक अफ़सर किसान की हालत सुधारने के लिए दससाला योजनाओं की चर्चा भी करने लगे हैं। गवर्नर और गवर्नर-जनरल भी ग्राम-सुधार के लिए युवकों को उपदेश देने लगे हैं। अनेक प्रान्तों में इस तरह की योजनाएं शुरू भी हो गई हैं। केन्द्रीय सरकार से और राष्ट्रीय नेताओं से सब प्रान्तों को इस कार्य के लिए प्रेरणा मिल रही है। ग़रीब किसानों की हालत सुधारने का जो भी क़दम सरकार की ओर से उठाया जावे, उसका हम स्वागत करते हैं। सचाई तो यह है कि बहुत से ऐसे मामले हैं, जिनमें सरकार और उसकी व्यवस्थापक सभाएं ही कुछ क़दम उठा सकती हैं। लेकिन लेखक के शब्दों में यह भी

याद रखना चाहिए कि "वर्तमान दुर्दशा के गहरे गढ़े से दरिद्र जनता को ऊपर उठाने के लिए सबसे पहली जिस चीज़ की ज़रूरत है, वह है अपनी दशा बदलने के लिए सम्पूर्ण राष्ट्र का दृढ़ संकल्प और आत्मविश्वास।" कोई भी प्रयत्न किया जाय, लोगों में दृढ़ संकल्प और आत्म-विश्वास की भावना का पैदा होना ज़रूरी है। जहां सरकार, व्यवस्थापक सभा या दोनों की सहायता ज़रूरी हो, वहाँ वह निस्संकोच देनी चाहिए। लेकिन दूसरी ओर किसानों को भी उत्साहित करना चाहिए कि वे अपनी उन्नति के लिए जो कुछ भी कर सकते हैं, अपने साथी किसानों के सहयोग से अवश्य करें। उन्हें अपनी सफलता के लिए जमींदारों और सरकारी अफ़सरों, दोनों की सहायता और सद्भावना की ज़रूरत होगी। किसान अपनी उन्नति के लिए जो भी क़दम उठाये, उसे संदेह की दृष्टि से नहीं, बल्कि सद्भाव और सहानुभूति की दृष्टि से देखना चाहिए। इस आन्दोलन को विशुद्ध आर्थिक आन्दोलन समझना चाहिए।

मैं ज़ोरों के साथ यह सिफ़ारिश करता हूँ कि प्रत्येक विचारशील भारतीय को और इस महान देश के शासन-प्रबंध में रुचि रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति को यह पुस्तक ध्यान से पढ़नी चाहिए और अपने उस किसान भाई की हालत सुधारने के लिए अपना-अपना भाग अदा करना चाहिए, जो गर्मी, सर्दी और बरसात में फ़सलें पैदा करने के लिए मिहनत-मशक्कत करता है और देश के पैंतीस करोड़ निवासियों को स्वास्थ्य और सम्पत्ति प्रदान करता है। भारतीय किसान खुशहाल हो सके और संसार के अपने साथी किसानों के साथ कन्धे-से-कन्धा मिला खड़ा हो सके, इसके लिए प्रत्येक विचारशील भारतीय और अफ़सर को उसकी उन्नति में सहायता देनी चाहिए।

—मदनमोहन मालवीय

विषय-सूची

भाग ४ : उपाय

हमारे गाँव और किसान

विषय-प्रवेश

"जब सरकार जेल में क़ैद की सज़ा भुगतनेवाले मुजरिमों तक को भोजन देती है, तब बेक़सूर ग़रीबों के लिए वैसा इन्तज़ाम न करने का मतलब है कि वह पाप और अपराध को उत्तेजना देती है।"

—जॉन स्टुअर्ट मिल

सब तरह के ऐश-आराम की चीज़ों से सजी-सजाई शहरों की शानदार और आसमान को छूनेवाली इमारतों को देखकर हम इस विशाल देश की सच्ची माली हालत का अन्दाज़ा नहीं कर सकते। शहरों की घनी आबादी, व्यापार की हलचल, व्यवसाय की चहल-पहल और रुपये की आमद भी मुल्क की सम्पत्ति जानने की कसौटियाँ नहीं हैं। हमें देश की आबादी के ७३.६ फ़ीसदी किसानों व उनके आश्रितों की सच्ची हालत जानने के लिए गाँवों में उनके घर जाकर देखना होगा। सच्चा भारत गाँवों में रहता है और देश की समृद्धि भी गाँवों की समृद्धि पर निर्भर करती है। इन पृष्ठों में हम भारतीय किसानों की शोचनीय दशा का कुछ चित्र खींचकर यह बताने की कोशिश करेंगे, कि इसका हल क्या है और किस तरह किसानों की ग़रीबी दूर की जा सकती है।

हमें गाँवों में किसानों के साथ हिल-मिलकर रहना चाहिए और अपनी आँखों से उनकी दुःखपूर्ण स्थिति का अध्ययन करना चाहिए। वहाँ हमें यह मालूम होगा कि ग्रामीण-जीवन शहरी-जीवन से कितना भिन्न है और शहरी आदमी उन हालतों की कल्पना तक नहीं कर सकते, जिनमें किसानों को रहना पड़ता है।

गांव की सड़कें और किसानों के घर

गाँवों तक पहुँचने के लिए खड़खड़ाती हुई धीमी चलनेवाली भद्दी-सी बैलगाड़ी के सिवाय और कोई सवारी आपको नहीं मिलेगी। इस बैलगाड़ी पर बैठे हुए हर पाँचवें क़दम पर आपको ऐसा झटका लगेगा कि आपकी हड्डियाँ कड़कड़ाने लगेंगी और उनमें दर्द होने लगेगा। न तो आपको वहाँ घोड़े की सवारी मिलेगी और न हिचकोला खानेवाले ढेंचू इक्के की सवारी। गाँवों के ऊँचे-नीचे टेढ़े-मेढ़े रास्तों के लिए बग्घी तो बहुत ही नाज़ुक चीज़ है। मोटर की तो वहाँ बात ही न कीजिए। वहाँ पक्की सड़कें देखने को नहीं मिलेंगी। गरमी में आपके शरीर व कपड़े धूल से और बरसात में पानी से भर जायँगे। आपको कड़कती धूप में चलना होगा; क्योंकि वहाँकी सड़कों पर कोई सायादार दरख्त नहीं मिलेगा जिसके नीचे आप कुछ देर बैठकर सुस्ता सकें। जब आप पसीने से तर-बतर और बेहाल हुए अपने लक्ष्य यानी गाँव तक पहुँच जायँगे, तब मिट्टी के झोंपड़े आपका स्वागत करते नज़र आवेंगे। बङ्गाल में तो मिट्टी की दीवारें भी नहीं मिलेंगी। ताड़ के पत्तों और छड़ियों से वहाँ दीवारें बनाई जाती हैं। यदि इन घरों की मरम्मत पर पूरा ध्यान न दिया जाय तो बरसात में वे अवश्य गिर पड़ेंगे। छत बहुत स्थानों से चूती हैं। दरअसल वह करुण दृश्य कभी नहीं भूलेगा जब बेचारे देहाती अपनी टूटी-फूटी खटियों को इधर-से-उधर हटाते फिरते हैं, ताकि छत से चूने वाले बरसात के पानी से बच सकें। घरों की दीवारों पर मिट्टी का पलस्तर होता है। सफ़ेदी के लिए चूना वहाँ नहीं मिलता। यदि मिलता भी है तो उसे खरीदना देहातियों की ताक़त से बाहर की बात है। यह तो फ़िज़ूलखर्ची की चीज़ मानी जाती है। गाँव के सम्पन्न लोग

भी लाल या पीली मिट्टी में गोबर मिलाकर लीपने से संतुष्ट होजाते हैं। किटसन या बिजली की बत्तियाँ तो वहाँ न किसीने देखी हैं और न किसीने उनके बारे में कुछ सुना ही है। घासलेट या मिट्टी के तेल के मामूली-से लैम्प भी वहाँ फ़िज़ूलख़र्ची माने जाते हैं। मिट्टी के दीये में सरसों या नीम का थोड़ा-सा तेल डालकर वे धुँधली-सी रोशनी कर लेते हैं, जिससे अँधेरा और भी साफ़ व काला होकर डरावना प्रतीत होने लगता है। कुछ घरों में टीन की डिब्बियों में मिट्टी का तेल जलाया जाता है, जिसके धुएँ और कालिख से कमरा इतना गन्दा होजाता है कि उसमें बैठा ही नहीं जाता। बिजली का पंखा तो दरकिनार; छत से लटकाये जाने वाले कपड़े के पंखे भी नहीं मिलेंगे। कुदरती हवा और पानी के सिवाय उनके पास गरमी से बचने का और कोई साधन नहीं है। फर्नीचर के नाम पर उनके पास केवल एक ही चारपाई होती है। वही कुर्सी, सोफ़े आदि कई चीजों का काम देती है।

हरेक घर के साथ एक मिट्टी का थड़ा भी जरूर होता है; जो उठने, बैठने और सोने आदि के अनेक काम आता है।

किसान का स्वास्थ्य

सरदी में कमरे को गरम करने के लिए न तो वहाँ भट्टियाँ ही हैं और न रसोईघर का धुआँ निकालने के लिए चिमनी ही। स्वास्थ्य को नष्ट करनेवाली इन सब बातों से बढ़कर गन्दा रिवाज यह है कि जिस घर में लोग सोते-उठते हैं। उसी घर में माल और मवेशी भी रहते हैं, घरों में खिड़कियाँ नहीं होतीं। घरों का फ़र्श कच्चा होता है, जो न कड़कड़ाती गर्मी से और न ठिठुराती हुई सर्दी से उनका बचाव कर सकता है। इन घरों के चारों ओर एक नज़र डालिए, आप चकित होजयाँगे। गलियों की कभी सफ़ाई नहीं होती। सब क़िस्म का कूड़ा-कचरा वहीं ढेर हो कर जमा रहता है और बरसात में पानी भरने से वह सड़ाँद करने लगता है। गन्दा पानी निकालने के

लिए वहाँ नालियाँ नहीं होतीं। सारा गन्दा पानी गलियों में फैल जाता है और जमीन में रिसता रहता है। घरों के पास ही और कभी-कभी घरों के सहन में ही खाद के ढेर लगा दिये जाते हैं। गाँव के नज़दीक ही गन्दे पानी के कुछ जोहड़ होते हैं। उनमें लाखों मच्छर भिनभिनाते और बीमारियाँ फैलाते रहते हैं। पानी पास होने की वजह से लोग इन्हीं जोहड़ों के किनारे टट्टी बैठते हैं और इस गन्दी आदत के कारण पानी और भी ख़तरनाक हो जाता है। यह सब मैला बरसात में बहकर जोहड़ों में चला जाता है। सूअर भी इन्हीं जोहड़ों में लेटते हैं। यही पानी मवेशी पीते हैं और शायद यही कारण है कि गाँवों में मवेशियों की बीमारियाँ ज्यादा फैलती हैं। गाँव का धोबी भी इन्हीं जोहड़ों में सब कपड़े धोता है और बहुत दफ़ा आदमी भी इन्हींमें नहा लेते हैं। जिन घरों और परिस्थितियों में अंग्रेज़ अपने सुअर भी रखना पसन्द नहीं करता, उनमें हमारे देहाती भाई रहते हैं।

भारतीय स्त्रियों का गहने का शौक बहुत प्रसिद्ध है। कुछ गहनों का पहनना तो विवाहित स्त्रियों के लिए लाज़िमी समझा जाता है ; लेकिन वे भी देहाती स्त्रियों को नहीं मिलते। देहात के सम्पन्न घरों में भी नथ के सिवा कोई सोने का गहना शायद ही कहीं दीखता है। गरीब स्त्रियों को तो काँसे या गिलट के गहनों पर ही संतोष करना पड़ता है, और बहुत-सी स्त्रियों को तो वे भी नसीब नहीं होते। मिट्टी के बर्तन हरेक घर में होते हैं। जो लोग पीतल के बर्तन ख़रीद सकते हैं, वे बहुत ख़ुशहाल समझे जाते हैं। आटा पीसने के लिए हरेक घर में एक चक्की अक्सर होती है। एक देहाती की कुल सम्पत्ति के नाम पर एक या दो बैल, कुछ सस्ते-से खेती के औजार और कुछ घरेलू बर्तनों के सिवा आप कुछ न देखेंगे।

बंगाल को छोड़कर सभी देहातों के किसान ज्यादातर

शाकाहारी हैं। बंगाल में भी किसान माँस नहीं खाते; वे मछली खाते हैं; क्योंकि वह सस्ती पड़ती है।

किसान का भोजन

देहाती के भोजन-चुनाव की सिर्फ़ एक कसौटी है, और वह है सस्तापन। मक्का, ज्वार, बाजरा, चना और जौ आदि उनका रूखा-सूखा भोजन होता है। सत्तू खाकर ग़रीब अपनी जठराग्नि को शान्त करता है। चीनी वह ख़रीद नहीं सकता, इसलिए नमक और मिर्च ही सत्तू में डालता है। बंगाल व दक्षिण भारत के कुछ हिस्सों में सबसे घटिया दर्जे का चावल ही देहातियों का भोजन है। किसान स्वयं सब प्रकार के अनाज पैदा करता है; लेकिन ग़रीबी की वजह से उस अन्न को खुद खा नहीं सकता। पर्व या त्योहार के सिवा वह सब्ज़ियों का इस्तैमाल बहुत कम करता है। शाकाहारी के लिए दूध बहुत ज़रूरी है; लेकिन आजकल का किसान मवेशी रख नहीं सकता; और जो कोई रखता भी है, तो वह दूध-मक्खन नहीं खा पाता। उसे तो मक्खन निकले दूध या छाछ पर ही गुज़ारा करना पड़ता है। उसके कपड़े तो और भी भीषण अवस्था का चित्रण करते हैं। गरमियों में देहाती घुटने तक की धोती बाँधता है। ८ से १२ साल तक का लड़का सिर्फ़ लंगोटी से काम चलाता है और इससे कम उम्र का बालक कुदरती पोशाक में ही रहता है। सरदी में भी कम्बलवालों की संख्या बहुत कम मिलेगी। ज्यादातर के पास एक कुरते व गाढ़े की चादर के सिवा और कपड़े नहीं होते। गन्ने के छिलके, गोबर या और घास-फूस जलाकर वे शरीर तापते हैं और इस तरह सरदी से अपना बचाव करते हैं।

जब वे बीमार पड़ जाते हैं, तो उनका इलाज करने के लिए वहाँ न डाक्टर आता है, न हकीम या वैद्य। आसपास के शहर

के सरकारी अस्पतालों में जाने पर भी उनकी कोई परवा नहीं करता। उन्हें सफ़ाई व तन्दुरुस्ती के नियम बतानेवाला कोई

औसत उम्र

नहीं है। ग्रामीणों का स्वास्थ्य लगातार गिर रहा है, उनके रोगी, पीले, पेट बढ़े हुए या हड्डी निकले हुए बच्चों को देखकर दया हो आती है। बालकों की मृत्युसंख्या गाँवों में बहुत अधिक होती है। अकाल या बीमारी से जितने मरते हैं, उनसे ज्यादा बालक भोजन व पोषण ठीक न मिलने से मर जाते हैं। गरीबों में जन्म और मृत्यु की संख्या का अनुपात स्वाभाविक तौर पर ज्यादा होता है। भारत में भी यही हाल है। यहाँ एक आदमी की औसत आयु २६.७ साल है, जब कि इंग्लैंण्ड में ५७.६, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में ५६.४, जर्मनी में ४६.४, फ्राँस में ५०.५ और जापान में ४४.५ वर्ष है।

गाँव वालों की पहुँच में न तो डाकखाने हैं और न स्कूल। तीन गाँवों में एक स्कूल भी मुश्किल से मिलेगा; पुस्तकालय,

भीषण स्थिति

क्लब, सभा-सोसाइटी; खेल-कूद आदि मनोरंजन के साधनों का तो सवाल ही नहीं। ग्रामवासियों का जीवन अत्यन्त कठोर परिश्रमयुक्त, शुष्क और नीरस होता है।

किसान बहुत सवेरे उठता है और रात होने तक काम करता रहता है। वह न कड़कड़ाती गरमी और लू की परवा करता है, न शरीर भेदने वाली ठंडी हवा की। वह मूसलाधार वर्षा में भी काम करता है; लेकिन फसल पककर कटने से पहले ही जमींदार उसे लगान के लिए तंग करना शुरू कर देता है और महाजन उसकी खड़ी फ़सल को ही डिग्री के द्वारा जब्त कर लेता है। उसकी फ़सल तैयार होने पर उसे अमीर जमींदार के भारी लगान और महाजन के भारी सूद को चुकाने के लिए सारी-की-सारी दे देनी पड़ती है। वह अपने लिए कुछ बचा नहीं सकता। दूसरे दिन से ही वह फिर बीज और अपने

गुज़ारे के लिए जमींदार व महाजन से कर्ज़ माँगना शुरू कर देता है। कर्ज़ पर लिये गये बैलों व औज़ारों से वह सारे मौसम खेती करता रहता है। अगली फ़सल तैयार होने पर फिर ज़रूरत के समय भारी दर पर लिये गए कर्ज़ के भारी सूद व लगान को चुकाने के लिए उसकी सारी फ़सल छीन ली जाती है और वह छूँछ-का-छूँछ रह जाता है। यह बदक़िस्मत चक्कर इसी तरह जारी रहता है और किसी भी साल अन्न और रुई उपजानेवाले किसान के पास न खाने को अन्न बचता है, न तन ढकने को कपड़ा। कितनी भीषण स्थिति है! ओह, कितनी भीषणता !!

लेकिन यह आमदनी अब और भी कितनी भीषणता से कम हो गई है, यह इस सम्बन्धी अंकों से स्पष्ट होजायगा। १६२८-२६ में ब्रिटिश-भारत की कुल पैदावार की कीमत, १,०२,१२० लाख रुपये थी, जबकि १६३३-३४ में तमाम पैदावार की कीमत घटकर सिर्फ़ ४७, ३६४ लाख रुपया रह गई है। इसका प्रधान कारण निरख में कमी है। इसका अर्थ यह हुआ कि ५० फ़ीसदी से अधिक आमदनी कम हो गई। यदि हम कुल २० करोड़ किसान मान लें, तो किसान की औसत आमदनी २४)रु० वार्षिक या २) रु० मासिक से कम हुई। इस आमदनी में से उसे १॥) मालगुज़ारी और ॥) आबपाशी प्रति व्यक्ति देनी पड़ती है। उसे अपने सिर पर के भारी कर्ज़ का सूद भी इसी २) रु० की मासिक आमदनी में से देना पड़ता है। १२ फ़ीसदी दर के हिसाब से किसानों पर कुल कर्ज़े का सूद १०० करोड़ रुपया होता है, अर्थात् प्रति व्यक्ति ५) वार्षिक सूद। इस तरह २४) रु० में से ७) रु० निकालकर सिर्फ़ १॥) रु० प्रतिमास अर्थात् ३ पैसे प्रतिदिन की आमदनी हुई। किसान की ग़रीबी निर्विवाद है, इसमें किसी को शक व शुबह की गंजायश नहीं। यदि इस

भीषण स्थिति का सुधार नहीं किया गया, तो भीषण सामाजिक क्रान्ति दूर नहीं है।

प्रो० रशब्रुक विलियम्स किसानों की स्थिति के अध्ययन के बाद इस नतीजे पर पहुँचे कि "जहाँ वर्षा बहुत थोड़ी और अनिश्चित हो, जमीन भी साधारण हो, वहाँ एक साधारण गाँव में किसान की सब आमदनी ३३॥) प्रति व्यक्ति से अधिक नहीं होती, जबकि उसके कपड़े व भोजन की कम-से-कम ज़रूरतें भी ४४)रु० से कम नहीं होती।"

रायल-कृषि-कमीशन ने अपनी रिपोर्ट के ४४१ वें पृष्ठ पर ठीक ही लिखा है—"हमें विश्वास है कि कोई भी ऐसी पद्धति को जारी रहने देना नहीं चाहता जिसमें लोग कर्ज से डूबे हुए पैदा होते हैं, कर्ज में उमर भर रहते हैं और कर्ज का भारी भार अपनी संतति पर छोड़कर इस दुनिया से चल देते हैं। यह सभी मानते हैं कि गाँवों में एक बहुत बड़ी तादाद दिवालिया किसानों की है।

जब एक किसान हर साल यही देखता है कि उससे सब-कुछ छीन लिया जाता है, तब उसे जीवन या खेती में कुछ रस नहीं रहता और वह ज़िन्दगी को भार समझने लगता है। उसका शरीर व मन भी कमजोर होने लगते हैं।

"यह खुशक़िस्मती की बात है कि भारत उष्ण देश है और यहाँ थोड़ी जरूरतों में काम चल जाता है। लोगों की धार्मिक प्रवृत्ति के कारण भी किसान अपनी स्थिति पर संतोष कर लेता है और विद्रोह की भावना पैदा नहीं होती; लेकिन अब स्थिति असह्य हो चुकी है और अब वह जानने भी लगा है। यदि स्थिति में कोई सुधार न हुआ तो वह दिन जल्दी ही आने वाला है, जब भारत का किसान वर्तमान स्थिति के खिलाफ़ बगावत शुरू कर देगा।"

किसानों की भयंकर ग़रीबी पर बहुत से देशी-विदेशी लेखकों ने विचार किया है। स्थानाभाव से उनमें से सिर्फ़ दो-तीन के उद्धरण दिये जाते हैं।

विद्वानों की दृष्टि में

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री श्री एस० केशव आयंगर अपनी पुस्तक "स्टडीज़ इन इण्डियन इकॉनॉमिक्स" में लिखते हैं—"भारत की देहाती जनता अपनी भूख को पर्याप्त भोजन द्वारा शान्त करने के बदले उसे मारने की कोशिश करती है। सत्तू या लपसी लेने का उद्देश्य ही यही होता है कि किसी तरह अनाज की कुछ बचत हो जाय।" दरअसल हिन्दुस्तान का किसान दुनियाभर में सबसे ग़रीब प्राणी है। बम्बई खेती-विभाग के डायरेक्टर डा० होल्ड एच० मैन ने सेवाकाल से मुक्त होते समय कहा था—"जबतक सरकार व सार्वजनिक कार्यकर्ता यह न समझ लें कि किसानों की खुशहाली का भेद उनकी उदरपूर्ति में है, तब तक ज़रा भी उन्नति नहीं होगी। भारत की उन्नति में सबसे बड़ी बाधा खाली पेट है।...मेरा अन्तिम संदेश भारतवासियों को सिर्फ़ एक है, कि किसानों को काफ़ी भोजन पहुँचाने के तरीक़े ढूँढे जावें।" श्री आनल्ड लपटन ने भारतीय किसानों की करुण अवस्था का सजीव चित्र खींचा है। वह लिखते हैं—"घास-फूस या ताड़ की पत्तियों से छाया एक मिट्टी का घर उसका महल है। उसका बिछौना पौदों के डण्ठल या पुआल का बना होता है, जो ज़मीन से मुश्किल से छः इंच ऊँचा होता है। चटाई हुई तो उसपर डाल लेता है, नहीं तो यों ही सो जाता है। उसके घर में न दरवाजा होता है, न खिड़कियाँ। खाना पकाने का या आग जलाने का छोटा-सा स्थान बाहर रहता है। उसके सोने के कमरे के बाहर एक मिट्टी का चबूतरा होता है। उसीको उसकी आरामकुर्सी समझिए। पहनने के लिए उसके पास केवल एक धोती रहती है। जब वह उस धोती को धोता है, तब

पहनने के लिए दूसरी धोती नहीं होती। वह न तम्बाकू पीता है, न शराब। न अखबार पढ़ता है न किसी उत्सव में भाग लेता है। उसका धर्म उसे सहनशीलता और संतोष की शिक्षा देता है। इसलिए वह संतोषी जीवन तबतक व्यतीत करता रहता है, जबतक दुर्भिक्ष उसे पीठ के बल गिरा नहीं देता।" एक और स्थान पर वह लिखते हैं—"लाखों किसान आधे एकड़ पर किसी तरह गुज़ारा करने के लिए दिन-रात कोशिश करते रहते हैं और आख़िर हार जाते हैं। यह लड़ाई एक मनुष्य का-सा जीवन व्यतीत करने के लिए नहीं होती। वे सिर्फ़ जीना चाहते हैं, केवल मौत से बचना चाहते हैं।" मि० ए० ए० पार्सल ने लिखा है—"हम कह सकते हैं कि भारत की अधिकांश जनसंख्या अपने जन्मदिन से मृत्यु-दिवस तक भूखी ही रहती है। सब राजनीतिक, शासनविधान-संबन्धी, जाति धर्म आदि की समस्यायेंपेट की इस भारी समस्या के आगे तुच्छ जान पड़ती है।" डब्ल्यू० एस० ब्लण्ट ने 'इण्डिया अण्डर रिपन' नामक पुस्तक में ठीक ही लिखा था, "हमने रिआया को डाकुओं के हाथ से बचा दिया; लेकिन पेट की ज्वाला से तड़प-तड़पकर मर जाने से नहीं बचा सके।" (पृष्ठ २४६-४६)

एक भारतीय की औसत आमदनी लगाने के लिए भिन्न-भिन्न अर्थशास्त्रियों ने अलग-अलग हिसाब लगाये हैं। ब्रिटिश सरकार-

औसत आमदनी

द्वारा नियत किये गए शाही-साइमन-कमीशन ने भी, जिसकी प्रामाणिकता पर सरकार को भी संदेह नहीं हो सकता, अलग-अलग अनुमानों की चर्चा करते हुए अपनी यह सम्मिति दी है कि १९२२ ई० में भारतीय किसान की ज्यादा-से-ज्यादा आमदनी ८ पौण्ड सालाना से कम ही होगी, जबकि इसी साल ग्रेटब्रिटेन में प्रत्येक नागरिक की औसत आमदनी ९५ पौंड थी—अर्थात् अंग्रेज की आमदनी का १२ वाँ

भाग भारतीय कमाता था। ये १६२२ के आँकड़े हैं। आज जबकि पदार्थों के मूल्य आधे से भी कम हो गये हैं, यह आमदनी और भी कम हो गई है। फिर इस आमदनी में बड़े-बड़े सम्पत्तिशालियों की आय भी शामिल है, उसे निकालने से तो देहाती की आमदनी और भी कम हो जायगी। भारत-सरकार ने पिछले सालों में एक बैंकिंग-इन्कायरी-कमेटी बिठाई थी। उसकी केन्द्रीय कमेटी ने प्रान्तीय कमेटियों की रिपोर्टों तथा सरकार द्वारा प्रकाशित आँकड़ों के आधार पर यह सम्मति दी थी कि "आबादी में वृद्धि और पदार्थों के मूल्य में कमी का ख़याल न भी करें, तो एक किसान की आमदनी सालाना ४२)रु० या ३ पौंड से ज्यादा नहीं है। इस तरह किसानों की भयंकर ग़रीबी निर्विवाद और स्वयंसिद्ध चीज़ है।"

भाग १ : भ्रम-निवारण

गरीबी के कल्पित कारण

किसानों की ग़रीबी के उपायों पर विचार करने से पहले उसके कारणों पर विचार कर लेना ज़रूरी है। बहुतसे सरकारी व ग़ैर-सरकारी विचारकों ने किसानों की समस्या पर विचार किया है और कुछ उपाय भी बताये हैं। इन उपायों को मद्देनज़र रखते हुए सरकार ने और सार्वजनिक कार्यकर्ताओं ने कुछ प्रयत्न किया भी है; लेकिन इसके बावजूद हालत बद से बदतर होती गई है। इसका एक ही कारण हो सकता है कि मर्ज़ ठीक नहीं समझा गया और इसलिए इलाज भी कारगर साबित नहीं हुआ। अनेक प्रसिद्ध सरकारी व ग़ैरसरकारी अर्थशास्त्रियों ने किसानों की ग़रीबी के निम्नलिखित कारण बताये हैं:—

(१) हिन्दुस्तानी किसान खेत के बहुत ही पुराने तरीक़े इस्तैमाल करता है, वह शेष संसार में प्रचलित वैज्ञानिक तरीक़ों से अपरिचित है, इसलिए खेत की उपज बहुत कम होती है।

(२) उसके खेत अलग-अलग टुकड़ों में बँटे हुए हैं, जिनपर वह पूरा ध्यान नहीं दे सकता।

(३) जनसंख्या की वृद्धि के साथ लोग कम बसे हुए स्थानों पर नहीं गये। इस कारण एक ही भूमि पर गुजारा करनेवालों की संख्या बढ़ गई और प्रति व्यक्ति आमदनी बढ़ने से और भी कम हो गई।

(४) वर्षा की कमी से कठिनाई और भी बढ़ जाती है।

(५) किसान की फ़िज़ूलख़र्चियाँ। इस कारण वह कुछ बचा नहीं पाता।

(६) महाजन का भारी सूद उसकी आमदनी के एक बड़े भारी हिस्से को खा जाता है।

इन्हीं कारणों को इतनी बार और इतने ज़ोर के साथ दुहराया गया है कि हम इनकी सच्चाई पर विश्वास करने लगे हैं। साधारण तटस्थ निरीक्षक इन कारणों को सच ही मानने लगे हैं; लेकिन जरा अन्दर जाकर देखने से घटनाएँ और आंकड़े हमें बिलकुल दूसरे परिणाम पर ले जाते हैं। इनमें से बहुत-से कारण गरीबी के परिणाम हैं, न कि कारण। सच्चे कारणों की तलाश हमें अन्यत्र करनी पड़ेगी।

: १ :

पहले कारण की समीक्षा

क्या भारत में खेती की औसत उपज बहुत कम है और क्या इसका कारण पुराने तरीकों का चलन है ?

प्रायः सभी सरकारी कमेटियों और कमीशनों की रिपोर्टों व रिकार्डों में किसानों की गरीबी का प्रधान कारण अवैज्ञानिक और पुराने तरीकों द्वारा खेती और उसकी वजह से अन्य देशों की अपेक्षा बहुत कम उपज को बताया गया है। गैरसरकारी विद्वानों ने भी इस मत का समर्थन किया है और खेती में वैज्ञानिक तरीकों के चलन को प्रोत्साहित करने के लिए प्रचार किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पिछली सदी में विदेशों ने मशीनरी का इस्तैमाल करके बहुतसी मेहनत बचा ली है, नये-नये वैज्ञानिक खादों का आविष्कार किया है, बीजों में सुधार किया है, खेती के कृमियों और रोगों के विनाश के उपाय निकाले हैं और इस तरह प्रति एकड़ अपनी उपज बहुत बढ़ाली है। इसके साथ यह भी सचाई है कि हिन्दुस्तानी किसान अभीतक सदियों पुराने तरीक़े को बरत रहा है और उसने वर्तमान वैज्ञानिक उन्नति से कोई लाभ नहीं उठाया है। कहा जाता है कि जब अन्य देशों में मशीनरी की सहायता से १२ इंच गहरा हल

चलाया जाता है, तब भारत में सदियों पुराने हल से सिर्फ ३ इंच गहरी ज़मीन खोदी जाती है। इसका नतीजा यह होता है कि ज़मीन की गहरी सतह से पौदे को जो भोजन प्राप्त हो सकता है, वह ऊपर की सतह से नहीं मिल सकता और उसकी बढ़वार रुक जाती है। हिन्दुस्तानी किसान वैज्ञानिक खादों का इस्तैमाल नहीं करता। खेतों में जो पुरानी फ़सल के रूप में उपयोगी खाद बच रहता है, उसे भी वह खेत में खपा नहीं पाता। वह इस सबको जला देता है और इस तरह भूमि की उपजाऊ-शक्ति को कम कर उपज भी कम कर लेता है। वह बीज की उन्नति की भी परवा नहीं करता। जब उसकी फ़सल में बीमारी फैलती है, वह उसे 'खुदाई क़हर' मानकर हाथ पर हाथ धर कर बैठ जाता है।

ऊपर का यह युक्तिक्रम उन लोगों को अवश्य ही ठीक मालूम होगा, जिन्होंने स्वयं कभी खेती नहीं की। शिक्षित भारतीय को खेती का अनुभव नहीं होता। वह तो आरामकुर्सी पर बैठकर आर्थिक प्रश्नों पर बहस करने वाला जीव है। वह सब बताई गई बातों को ठीक मानकर दलील करता है और एक परिणाम निकालकर निश्चिन्त होजाता है। लेकिन क्या वे सब बातें, जो उसे बताई गई हैं, बिलकुल ठीक हैं? क्या दरअसल हिन्दुस्तान की प्रति एकड़ उपज बहुत कम है और क्या हिन्दुस्तानी किसान की ग़रीबी का इसे प्रधान कारण कहा जा सकता है?

जो ऊपर लिखा युक्तिक्रम पेश करते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि भिन्न-भिन्न देशों में उपज की तुलना करते हुए तीन बातों का खयाल जरूर करना चाहिए (१) भूमि (२) जलवायु और (३) किसान की शक्ति। यदि इन बातों की तुलना नहीं की गई, तो उपज की तुलना का कोई अर्थ नहीं रहता। इन चीजों का किसी वस्तु की पैदावार पर

तुलना के लिए आवश्यक अंग

कितना अधिक असर पड़ता है, यह बताने के लिए बहुत अधिक उदाहरण देने की ज़रूरत नहीं। हिन्दुस्तान में आम की उपज और किसी भी देश से बहुत ज्यादा होती है। अन्य देशों में वैज्ञानिक साधनों, बढ़िया खादों आदि के बीसियों प्रयोगों के बावजूद भी भारतीय आम-जैसा स्वादिष्ट फल पैदा नहीं किया जा सका। यदि जमीन से पैदावार ही एकमात्र कसौटी होती तो हम आम का उदाहरण बता कर आसानी से यह कह सकते कि हिन्दुस्तान का माली और सब मुल्कों से चतुर है; लेकिन यह स्पष्ट है कि भारत में आम की अच्छी पैदावार का कारण माली की चतुराई नहीं, भारत की भूमि और जलवायु है। इतना दूर जाने की जरूरत नहीं, भारत के ही एक प्रान्त का जलवायु दूसरे प्रान्त के जलवायु से मेल नहीं खाता, इसलिए प्रान्तों की पैदावार और फ़सल में भारी अन्तर पड़ता है। बम्बई में तीन इंच से नीचे की जमीन कंकरीली और पथरीली है; लेकिन पंजाब व युक्त-प्रान्त की ज़मीन पानी की सतह तक अच्छी पाई जाती है। युक्त प्रान्त व पंजाब दोनों प्रान्तों में बहुत बड़े-बड़े भूमिखण्ड हैं, जो शोरे से भरे हुए हैं और जहाँ घास की एक पत्ती तक पैदा नहीं हो सकती। सरकारी विशेषज्ञों ने अपनी पूरी जानकारी, वैज्ञानिक साधनों और तरीकों का उपयोग इस ज़मीन को उपजाऊ बनाने के लिए किया; लेकिन उनकी सब कोशिशें बेकार रहीं। जहाँ थोड़ी-बहुत सफलता भी हुई है, वहाँ भी आमदनी की बजाय ख़र्च ज्यादा हुआ है। ऐसे स्थानों में भूमि ही कम उपज का एकमात्र कारण है। इसी तरह ऊँची-नीची ज़मीनें पहाड़ी ज़मीनें और रेतीली जमीनें किसी भी तरह साधारण जमीन से ज्यादा पैदावार नहीं दे सकतीं।

जलवायु भी जमीन की तरह पैदावार पर भारी असर डालता है। पंजाब और युक्तप्रान्त में जलवायु के भेद के कारण ही बम्बई की अपेक्षा ज्वार की फ़सल बहुत कम पैदा होती है। बम्बई में हर

साल इसकी दो फ़सलें होती हैं, जबकि शेष प्राँतों में सिर्फ एक फ़सल होती है। जलवायु के कारण ही बंगाल जूट के लिए, पंजाब गेहूँ के लिए, और बिहार रुई के लिए प्रसिद्ध हैं। कृषि-विभाग के बीसियों प्रयत्न करने पर भी अन्य प्राँतों में उक्त फसलें उसी तरह की और उसी मात्रा में पैदा नहीं की जा सकीं। फलों का उदाहरण इस पर और भी ज्यादा रोशनी डालता है। भारत के दूसरे भागों में भारी कोशिशों के बावजूद भी नागपुर व सिलहट जैसा सन्तरा पैदा नहीं किया जा सका और न बम्बई व मद्रास का केले में मुकाबला किया जा सका।

किसान का सामर्थ्य—उसकी जानकारी व साधन-सम्पन्नता भी उपज पर काफ़ी प्रभाव डालती है। मध्य-प्रान्त का एक किसान अपनी थोड़ी-सी जानकारी व थोड़ी सी पूँजी से उतनी पैदावार नहीं ले सकता, जितनी एक यूरोपियन प्लाण्टर अपनी विशेष जानकारी और विस्तृत साधनों से ले लेगा। यदि एक किसान को ठीक समय बीज न मिले, वक्त पर बैलों की जोड़ी और मजदूरों का टोटा रहा, तो फ़सल पर इसका असर लाज़िमी तौर पर पड़ेगा। एक अनुभवी किसान बिलकुल नये किसान से हर हालत में ज्यादा पैदावार कर सकेगा।

इस संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट होगया कि उक्त तीनों वस्तुओं का पैदावार की कमी और बेशी पर काफ़ी असर पड़ता है। कुछ देशों में केवल पैदावार की तुलना से हम किसी परिणाम पर नहीं पहुँच सकते और न हम पैदावार बढ़ाने की सभावना पर विचार कर सकते हैं। दो देशों की पैदावार की मात्रा के संबंध में किन्हीं स्थिर परिणामों पर पहुँचने के लिए हमें उक्त तीन कारणों से उत्पन्न भेद-भाव को पहले मिटा देना चाहिए।

भारतवर्ष और चीन तमाम दुनिया में सबसे पुराने देश हैं

और वे अनादि काल से खेती करते आये हैं। इन दोनों देशों में

नये व पुराने देश

बहुत युगों से खेती होती रही है और इसलिए इन दोनों देशों की भूमि में प्राकृतिक पोषक तत्त्व कम हो गये हैं। अन्य देशों में, जहाँ अभी सभ्य जातियों ने अपनी बस्तियाँ बसाई हैं या अभी हाल ही में खेती शुरू हुई है, भूमि में वनस्पतियों के लिए पोषकतत्त्व अधिक मात्रा में हैं और इसलिए किसान को थोड़ी-सी भी मिहनत से ज्यादा पैदावार मिल जाती है। यही कारण है कि पंजाब व बर्मा में, जहाँ कुछ साल पहले ही नहरी सिंचाई का प्रबन्ध होने से खेती होने लगी है, प्रति एकड़ पैदावार ज्यादा है। पंजाब में गेहूँ एक दफा चारे के लिए काटी जाती है। पंजाबी किसान का खेती का तरीक़ा यू० पी० के किसान के तरीक़े से कहीं ज्यादा भद्दा और अवैज्ञानिक है। उसका हल मुश्किल से ज़मीन में दो इंच जाता है। वह कभी खाद की फ़िक्र नहीं करता; लेकिन इन सबके बावजूद भी वह ज्यादा पैदावार पाता है। इसका मुख्य कारण वह उपजाऊ भूमि है, जिसपर हाल ही में खेती शुरू हुई है। जो लोग भारत की पैदावार की तुलना आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड, संयुक्तराष्ट्र अमेरिका की पैदावार से करते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि उन देशों की जमीनों पर हल चले हुए अभी एक भी सदी नहीं बीती और इसलिए यदि वहाँ ज्यादा पैदावार हो, तो आश्चर्य नहीं करना चाहिए।

नीचे हम भारत और अन्य देशों की पैदावार का एक तुलनात्मक नक्शा देते हैं। लेकिन यह ख़याल रखना चाहिए कि भारत की

उपज के तुलनात्मक आँकड़े

पैदावार के आँकड़े बहुत विश्वसनीय नहीं हैं। पटवारी फ़सल को देखकर अनुमान से पैदावार लिख देते हैं। कभी फ़सल कटने पर बाक़ायदा पैदावार के आँकड़ों

से इस अनुमान का समर्थन नहीं किया गया। इस सम्बन्ध में अनेक प्रयत्न किये गये; लेकिन कोई फ़ायदा नहीं हुआ। श्रीदत्त ने भी यह स्वीकार किया है कि सरकारी आँकड़ों का आधार केवल कल्पना है और इन्हें बिल्कुल ठीक नहीं माना जा सकता। फिर भी जो आँकड़े उपलब्ध हैं, उन्हीं का हमें अपने काम के लिए सहारा लेना होगा।

फ़सल की औसत पैदावार

	गेहूँ (बुशलों में)	दूसरे अनाज (बुशलों में)	जौ (बुशलों में)	चावल (पौण्डों में)
भारत	११.४	१३.६	१६.२	८६३
कनाडा	१६.६	४४.३	२५.४	—
सं० रा० अमेरिका	११.६	२७.८	२४.८	१०७६
मैक्सिको	५.०	११.८	—	६८२
फ्रांस	१३.६	१७.८	२५.६	—
स्पेन	६.६	२२.२	२१.२	३२७०
पुर्तगाल	१७.२	—	११.३	१२२२
रूस	१०.१	१७.४	१२.८	—
अफ्रीका	१०.६	—	१२.३	—
आस्ट्रेलिया	६.८	१६.५	६.४	—

(एक बुशल = ३२ सेर, एक पौण्ड = ½ सेर)

यदि हम इस सूची को भी सही मान लें, तो यह साफ है कि भारत की उपज सब देशों से कम नहीं है। मैक्सिको में गेहूँ और चावल की उपज भारत से कम है। इसी तरह भारत में पुर्तगाल, यूनान, रूस, मोरक्को, अलजीरिया तथा अन्य अनेक देशों से गेहूँ की उपज कहीं ज्यादा होती है। इसका यह अर्थ

हुआ कि सरकारी और गैरसरकारी विद्वानों की यह धारणा ग़लत है कि भारत में प्रति एकड़ पैदावार सबसे कम है।

इस विषय पर विचार करते हुए हमें एक और आश्चर्यजनक बात मालूम होती है। वह यह कि भारत की अधिकतम उपज अन्य देशों की अधिकतम उपज से ज़्यादा है; लेकिन औसत उपज दूसरे देशों की उपज से बहुत कम है। यदि हम इस सचाई के महत्त्व को समझ लें कि भारत में औसत उपज ही कम है, न कि अधिकतम उपज, तो हम इस समस्या को आसानी से समझ सकेंगे। जिस देश में अधिकतम उपज काफ़ी ऊँची हो और औसत उपज कम हो, वहाँ यह समझना चाहिए कि बोई जाने वाली फ़सल के लिए अच्छी ज़मीन और अनुकूल जलवायु की कमी है। यदि हालतें एक-सी होतीं, तो पैदावार भी एक-सी होती। शाही खेती कमीशन ने इस विषय पर विचार करते हुए पृ० ७५ पर लिखा है कि—"जो ज़मीन पहले-पहल बोई जाती है, उसमें उन ज़मीनों की अपेक्षा नत्रजन ज़्यादा होता है, जो नत्रजन पाने के लिए सूर्य और प्राकृतिक स्थितियों पर ही निर्भर करती हैं। अगर उन ज़मीनों में खाद काफ़ी न डाली जाय तो यह निश्चित-सा है कि उनका उपजाऊपन हर साल कम होता जायगा। इसके अलावा अगर देश की जनसंख्या बहुत बढ़ जावे और वह ज़्यादातर खेती पर गुज़ारा करने लगे, तो यह भी निश्चित है कि ज़्यादा बढ़ी हुई तादाद निकम्मी ज़मीनों पर खेती शुरु कर देगी; क्योंकि अच्छी ज़मीनों पर तो पहले से ही खेती हो रही होती है और इसका परिणाम होता है खेती की औसत उपज में कमी।"

कम उपज के कारण

ज़मीन पर भारी बोझ होने की वजह से सभी क़िस्म की निकम्मी ज़मीनों पर भी खेती बोनी पड़ती है। बम्बई प्रान्त में तीन इंच से गहरी अच्छी ज़मीन विरली ही मिलेगी। ३ इंच से नीचे

वहाँ की ज़मीन पथरीली और कंकरीली है। दूसरे प्रान्तों में भी बंजड़, ऊसर, पथरीली, रेतीली आदि निकम्मी ज़मीनें बोई जाती हैं और इनकी वजह से सारे प्रान्त की उपज की औसत बहुत गिर जाती है, भले ही उस प्रान्त की अच्छी ज़मीनों की पैदावार काफ़ी ऊँची हो। भूमि एक ऐसा ईश्वरप्रदत्त पदार्थ है जिसे मनुष्य अपनी इच्छा से बढ़ा नहीं सकता। जब ज़मीन पर भार बढ़ जाता है, तब निकम्मी-निकम्मी ज़मीनों पर भी खेती होने लगती है। इस के परिणाम-स्वरूप सारे देश की औसत पैदावार घट जाती ही है। भारत की औसत उपज की कमी का एक प्रधान कारण यही भूमि पर असह्य भार है।

औसत पैदावार में कमी का एक और भी महत्त्व-पूर्ण कारण है। हिन्दुस्तान में हरेक किसान के पास मुश्किल से दो एकड़ औसत ज़मीन है। इसलिए वह इस थोड़े-से टुकड़े में ज़्यादा-से-ज़्यादा फ़सलें बोने की कोशिश करता है। जब वर्षा नहीं होती या हवा में काफ़ी नमी नहीं होती, तब किसान को प्रतिकूल परिस्थितियों में भी खेती बोने का खतरा उठाना पड़ता है। किसान के सामने दो मार्ग होते हैं; या तो वह ऐसे टुकड़े में फ़सल बिलकुल ही न बोवे, जहाँ पर्याप्त नमी नहीं है, या फिर वह भविष्य में वर्षा की आशा से बो देवे। भारतीय किसान अपनी या अपने बैलों की मेहनत का हिसाब नहीं लगाता; क्योंकि बैलों के लिए उसके पास दूसरा कोई काम ही नहीं। इसलिए वह फ़सल बोने का ही निश्चय करता है। इस तरह ऐसी भी बहुत-सी ज़मीन बो दी जाती है, जो हरेक किसान के पास कुछ ज़्यादा ज़मीन होने की हालत में कभी न बोई जाती। इसी प्रकार दो फ़सलें बोने की वजह से भी औसत पैदावार कम हो जाती है।

पैदावार में कमी का एक तीसरा भी कारण है। हिन्दुस्तान में नहर या कुएँ से सिंचाई की सुविधा सिर्फ़ १६ फ़ीसदी ज़मीनों को

प्राप्त है। बाकी ८४ फ़ीसदी ज़मीनों के लिए सिंचाई की कोई व्यवस्था नहीं है। सिंचाई वाली ज़मीनों की पैदावार सूखी ज़मीनों की पैदावार से आमतौर पर ५० फ़ीसदी ज़्यादा होती है। एक सरकारी रिपोर्ट के अनुसार युक्तप्रान्त में सूखी ज़मीन से १९२६-२७ में ८५० पौण्ड प्रति एकड़ गेहूँ पैदा हुए, जबकि सिंचाई वाली ज़मीन से १२५० पौण्ड गेहूँ तैयार हुए। इसी तरह इसी साल में पंजाब की सूखी और सिंचाई वाली ज़मीनोंमें क्रमशः ५७६ और ९९७ पौण्ड प्रति एकड़ पैदावार हुई। युक्तप्रान्त व पंजाब में सूखी ज़मीन से क्रमशः ९०० और ६२६ पौण्ड जौ पैदा हुए, जबकि सिंचाई वाली ज़मीन से १३५० और १००४ पौण्ड जौ की उपज हुई। इसलिए हम यह कल्पना बहुत आसानी से कर सकते हैं कि यदि तमाम खेती-भूमि के लिए सिंचाई की व्यवस्था होती, तो औसत उपज भी ५० फ़ीसदी बढ़ जाती। जिन प्रदेशों में नहरें हैं भी, वहाँ भी पानी की कमी से खेती को पर्याप्त पानी नहीं मिलता। इन कारणों से स्पष्ट है कि यदि भारत में औसत उपज कम है, तो इसकी जिम्मेवारी किसान पर नहीं डालनी चाहिए। यह कमी उसकी ताक़त से बाहर की बात है।

खेती की पैदावार बढ़ने के साथ किसान की ग़रीबी ख़तम हो जायगी, यह दलील भी बिलकुल ग़लत है। पैदावार की वृद्धि का किसान की ग़रीबी से कोई ताल्लुक़ नहीं है। पैदावार की वृद्धि का यह अर्थ कभी नहीं निकलता कि किसान के नफे में भी उसी हिसाब से बेशी हुई है। यह भी मुमकिन है कि पैदावार का ख़र्च इतना बढ़ जाय कि बढ़ी हुई उपज की आमदनी से भी ज़्यादा हो जाय और इस तरह किसान को लाभ की जगह नुक्सान उठाना पड़े। उपज में नहीं, नफे में वृद्धि का संबंध उसकी आर्थिक स्थिति से है। खेती-जाँच-कमीशन (The Agricultural Tribunal of

बिना लाभ के ज़्यादा पैदावार नहीं चाहिए

Investigation) ने अपनी रिपोर्ट में ठीक ही लिखा है कि "खेती की समृद्धि का अर्थ किसानों की खुशहाली है न कि एकड़ों की खुशहाली।" (पृ० १५६)। ज़मीन या एकड़ों को खुशहाली और किसानों की खुशहाली दोनों एक चीज़ नहीं हैं। यह भी मुमकिन है कि बड़ी लागत लगाकर खूब पैदावार करने वाले किसान को कुछ नुकसान हो और कम खर्च करके थोड़ी पैदावार करने वाले किसान को नफ़ा हो। कल्पना कीजिए कि एक किसान को फ़सल पर ३५) रु० खर्च करने के बाद १५ मन गेहूँ प्रति एकड़ मिलता है, जिसे ४५) रु० में वह बेच देता है। यदि वह ५०) रु० और खर्च करके १५ मन ज्यादा गेहूँ की पैदावार करे और ६०) रु० में बेच दे तो उसे ५) रु० प्रति एकड़ अपनी जेब से भरने पड़ेंगे। क्रमिक ह्रास (Diminishing return) का नियम खेती पर ही सबसे अधिक लागू होता है। फिर यह भी मुमकिन है कि सारे देश में बढ़ी हुई पैदावार अनाज की क़ीमत को भी कम कर दे, हालाँकि ऊपर के उदाहरण में हम ने इसे खयाल में नहीं रक्खा। ज्यादा-से-ज्यादा पैदावार करने की सलाह देने के बजाय किसान को यह सलाह देनी चाहिए कि वह इतना पैदा करे कि कम-से-कम खर्च कर वह ज्यादा-से-ज्यादा नफ़ा कमा सके। यह सचाई केवल भारत पर ही नहीं, सभी देशों पर लागू होती है। इंगलैंड को अपनी उन्नत और वैज्ञानिक खेती पर बहुत घमण्ड है; लेकिन उसे भी गेहूँ की खेती छोड़ कर घास की खेती अपनानी पड़ी; क्योंकि गेहूँ की खेती वहाँ नुक़सानदेह साबित हो रही थी। १८७३ में वहाँ १, ८१, ६०, ०२७ एकड़ों में खेती होती थी; लेकिन ५० साल बाद १९२३ में १, ७६, ९७२ एकड़ों की कमी हो गई। जाँच करने पर मालूम हुआ कि ज्यादा कमी गेहूँ की खेती में हुई है। यद्यपि इंगलैंड में गेहूँ की पैदावार फ़ी एकड़ भारत से कहीं ज्यादा है, तो भी वह अँग्रेज किसान को नफ़े का

सौदा मालूम नहीं होता और इसलिए उसने गेहूँ की खेती छोड़ कर अपनी जमीनों को चरागाह बना दिया है। इंगलैंड में जो योजना सफल नहीं हुई, वह भारत में भी सफल नहीं हो सकती।

तमाम देश में किसी एक वस्तु की अत्यधिक उत्पत्ति उस वस्तु के दाम इतने कम कर देती है कि उसकी खेती लाभप्रद होने के बजाय हानिप्रद होने लग जाती है। संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका में एक साल ३२ करोड़ बुशल आलू पैदा हुए, उस समय आलू की क़ीमत १ डालर ८० सैन्ट फ़ी बुशल थी; लेकिन जिस साल आलू की पैदावार ४४ करोड़ ६० लाख बुशल हुई, उस साल आलू की क़ीमत भी गिरकर ८० सैन्ट फ़ी बुशल रह गई। अर्थात् पहले साल कुल पैदावार की क़ीमत ५, ७ ६, ००, ०००, डालर थी; लेकिन दूसरे साल ज्यादा पैदावार की कुल क़ीमत सिर्फ़ ३, ५२, ००, ००० डालर हो गई।

इसका अर्थ यह हुआ कि पैदावार थोड़ी होने पर भी किसान की जेब में पैसे ज्यादा पहुँचे। भारत में भी सरकार ने इस सचाई को अनुभव किया है और जगह-जगह खेती पर पाबन्दी की सूचनाएँ दी जाने लगी हैं। १६३२ में गन्ने की पैदावार युक्त-प्रान्त में बहुत अधिक होने पर गुड़ की कीमत ४) रुपया प्रति मन से गिरकर १ रुपया १० आना मन, जितनी पहले कभी नहीं हुई थी, हो गई। हालत और भी खराब हो जाती, यदि सरकार विदेशी चीनी पर भारी तटकर न लगा देती। इसी कारण बंगाल के किसानों को जूट की खेती कम करने की सलाह दी गई कि ज्यादा पैदावार से जूट के दाम बेहद गिर रहे थे। इंगलैंड के खेती व मछली-विभाग की रिपोर्ट ने भी अत्यधिक उत्पत्ति से मूल्य में कमी की सचाई को स्वीकार करते हुए लिखा है कि "हिसाब लगाया गया है कि ६० लाख गाँठ रुई की फ़सल में १३० लाख गाँठ फ़सल की बजाय किसान को ज्यादा पैसे मिलते हैं। इसी तरह ७००० लाख

बुशल गेहूँ की फ़सल में १०००० लाख बुशल गेहूँ की फ़सल की बजाय किसान ज्यादा कमाता है। ज्यादा पैदा करना हमेशा ही फ़ायदे-मन्द साबित नहीं होता। अख़बारों से हमें समय-समय पर मालूम होता रहता है कि कुछ देशों में गेहूँ और रुई की फ़सलें इसलिए जला दी जाती हैं कि दाम बहुत न गिर जावें। इसलिए यह स्पष्ट है कि किसानों के हितचिन्तकों का आन्दोलन ज्यादा-से-ज्यादा पैदा करना न होकर सिर्फ वही वस्तु पैदा करना होना चाहिए, जिसमें ज्यादा-से-ज्यादा नफ़ा हो।

हिन्दुस्तान में खेती के जो बाबा-आदम के तरीक़े चालू हैं, उनके सम्बन्ध में हमारा विश्वास है कि उन्नति जरूर हो सकती है; लेकिन फिर भी हमारी यह निश्चित सम्मति है कि भारतीय किसान न तो मूर्ख है, न जाहिल, जैसाकि उसे बार-बार प्रकट किया जाता है। हम यह बिना किसी संकोच के कह सकते हैं कि वह अपना काम बख़ूबी जानता है। यह ठीक है कि उसने साइंस के तौर पर बाक़ायदा किसी स्कूल या कालिज में खेती का ज्ञान प्राप्त नहीं किया और न उसने किसी विदेश में खेती के आधुनिक विज्ञान का अनुभव प्राप्त किया है; लेकिन फिर भी उसके पीछे सदियों और पीढ़ियों का अनुभव है, जिसके कारण वह खेती के बारे में काफ़ी जानकारी रखता है। उसके तरीक़े भी वैज्ञानिक आधार पर स्थित हैं। हिन्दुस्तानी खेती पर जे० मोलिसन ने अपनी राय देते हुए लिखा है कि "इस प्रान्त का किसान जिस सफ़ाई, जिस पूर्णता और जिस नफ़े के साथ खेती करता है, उससे ज्यादा अच्छी खेती संसार के किसी भाग का भी बढ़िया-से-बढ़िया किसान नहीं कर सकता। मैं यह जान-बूझ कर लिख रहा हूँ और इसका प्रत्येक अक्षर साबित कर सकता हूँ।" शाही खेती-कमीशन की भी इस विषय पर यही राय है। उस रिपोर्ट के

खेती के पुराने तरीक़ों की निन्दा

बहुत से उद्धरणों में से दो-तीन ही काफ़ी होंगे। "यह सभी जानते हैं कि बहुत से स्थानों में खेती का तरीक़ा बहुत अच्छा है। उदाहरण के तौर पर डेल्टा में चावल की खेती पूर्णता तक पहुँच गई है। खेती-सम्बन्धी बहुत-सी कहावतों में ग़ज़ब की सचाई है, जिसे कोई भी वैज्ञानिक शोध ग़लत नहीं साबित कर सकी। पहाड़ी इलाकों के कोठे, कुओं व तालाबों से सिंचाई के कई तरीक़े, झरनों से खेती तक बनाई गई बिलकुल ठीक नालियाँ, ज़मीन के सुधार की पद्धतियाँ किसानों की चतुरता, समझदारी, धैर्य, और मेहनत का परिचय देती हैं। यह ठीक है कि इन सबका प्रयोग छोटे-छोटे क्षेत्रों में ही होता है; लेकिन इससे इनका महत्त्व कम नहीं हो जाता। सरकार की बड़ी-बड़ी योजनाओं के बनाते हुए इनकी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। जिन हालतों में साधारण किसान काम करता है, उन्हीं हालतों में सरकारी विशेषज्ञों के लिए सुधार के परामर्श देना कोई आसान काम नहीं है।" (पृ० १४) "गुजरात का किसान संसार के किसी भी किसान जितना योग्य है। मद्रास का किसान बहुत कठोर परिश्रमी और धैर्यवान है।" (परिशिष्ट पृ० १२०) "दक्षिण के ज़िलों में खेती बिना सिंचाई का एक बहुत सुन्दर तरीका है। जहाँ वर्षा बहुत कम और अनिश्चित होतीहै और कुँओं से भी सिंचाई संभव नहीं है, वहाँ सब फ़सलें कुछ गहरी बोई जाती हैं और ज़मीन की नमी को सुरक्षित रखने की ख़ासतौर पर कोशिश की जाती है। हर पाँचवें या चौथे साल छः या ज्यादा बैलों की जोड़ियों से हल चलाया जाता है, जिससे कि ग़ैरज़रूरी घास बाहर आकर धूपकी गरमी से नष्ट हो जावे।" (वही पृ० २३७) बाबा-आदम का हल कहकर जिस हल की हँसी उड़ाई जाती है, उस हल के बारे में उक्त रिपोर्ट में लिखा है:—

"हमारा विश्वास है कि ज़मीन में नमी को क़ायम रखने के मूलभूत सिद्धान्त के कारण ही हिन्दुस्तान का किसान अपने हल को

ख़ासतौर पर पसन्द करता है। वह ग़रीबी की वजह से अलग-अलग औज़ार नहीं ख़रीद सकता। इसलिए उसका हल उसकी ज़रूरतों को पूरा करने के ख़याल से बहुत उपयोगी औज़ार है। पश्चिमी अर्थों में देसी हल भले ही जमीन खोदता न हो; लेकिन यह जोतता ज़रूर है। यह ठीक है कि भारत के खेतों में उलट-पलट करने या खोदने वाले हल से लाभ होगा; लेकिन उससे भी ज्यादा ज़रूरत ज़मीन में नमी या तरी रखने की है। इसलिए यदि अपनी ग़रीबी के कारण हिन्दुस्तान का किसान कई औज़ार नहीं ख़रीद सकता, उसके लिए अकेला हल अधिक उपयोगी है, जो ज़मीन को जोत तो सकता है; लेकिन बहुत गहरा खोदता नहीं है। गहरा खोदनेवाले हल के एक बार चलाने का कार्य देसी हल के कई बार चलाने से भी पूरा हो जाता है। मिस्र के भी फ़ालहीन, जो बहुत अच्छे कृषक समझे जाते हैं हिन्दुस्तानी ढंग के हल इस्तेमाल में लाते हैं।" इन उद्धरणों से पाठक समझ जावेंगे कि भारतीय किसान न तो अनुभव व जानकारी में किसी से कम है और न उसके तरीक़े अवैज्ञानिक हैं, भले ही वे पुराने हों। बड़ी-बड़ी तनख्वाहें लेने वाले सरकारी विशेषज्ञ भी अबतक कोई ख़ास सुधार नहीं कर सके। खेती-कालिजों में शिक्षा पाने वाले ग्रेजुएट खेती को पेशे के तौर पर नहीं अपनाते। जिन ग्रेजुएटों ने शुरू में अपनाया भी है, वे भी सफल नहीं हुए और उन्होंने खेती छोड़ दी। यही इस बात का सबसे बड़ा सबूत है कि वैज्ञानिक तरीक़ों की माँग उपयोगी सिद्ध नहीं होगी। यदि किसी को यह विश्वास है कि वैज्ञानिक तरीक़ों से खेती में लाभ हो सकता है, तो उन्हें किसानों को गाली देना छोड़ कर स्वयं खेती करके यह दिखाना चाहिए।

इसका यह मतलब नहीं कि हम उन्नति में विश्वास नहीं करते। उन्नति संभव है, लेकिन उससे लाभ इतना कम होगा कि

किसान की आर्थिक स्थिति पर खास असर नहीं पड़ेगा। फिर यदि कुछ लाभ हो भी, तो उसे पाने के लिए पहले इतना रुपया लगाना पड़ेगा, जो ग़रीब किसान की ताक़त के बाहर है। किसान पैसा नहीं लगा सकता, यह ग़रीबी का परिणाम है न कि कारण। इसी तरह भारत की फ़ी एकड़ कम उपज, यदि वह कम है, ग़रीबी का कारण नहीं, परिणाम है और ज्यादा उपज से भी किसान के अमीर होने की आशा नहीं की जा सकती।

: २ :

भूमि-विभाजन और जन-संख्या

हिन्दुस्तान की कम उपज का किसान की ग़रीबी से क्या सम्बन्ध है, इस पर हमने पिछले अध्याय में विचार किया है और यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि हिन्दुस्तान में औसत कम उपज किसान की ग़रीबी का कारण नहीं। इसी तरह किसान की ग़रीबी के जो दूसरे कारण बताये जाते हैं, उनमें भी वस्तुतः बहुत सार नहीं है। इस अध्याय में हम उन में से दो कारणों—ज़मीन के दूर-दूर अलग-अलग टुकड़ों में बाँट देने और जन-संख्या में भारी वृद्धि के औचित्य पर संक्षेप से विचार करना चाहते हैं।

ज़मीनों का एक साथ न होना

कहा जाता है कि भारत में एक किसान की ज़मीन अलग-अलग दूर-दूर के टुकड़ों में बिखरी हुई होती है, इसलिए वह सब पर ठीक ध्यान नहीं दे सकता। एक साथ के टुकड़ों की खेती पर जहाँ ख़र्च कम होता है, वहाँ छोटे-छोटे टुकड़ों की हद-बंदी में भी बहुत-सी ज़मीन चली जाती है, जिसपर यदि खेती होती, तो

किसान की पैदावार ज़रूर बढ़ जाती।

इस दलील में थोड़ी-बहुत सचाई है, यह मानते हुए भी हम यह नहीं मान सकते कि किसान की ग़रीबी का यह प्रमुख कारण है। कितनी ज़मीन हद-बंदी में घिरी हुई है, इसके आँकड़े न होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि १ फ़ीसदी से ज्यादा ज़मीन हद-बन्दी में नहीं घिरी हुई। अलग-अलग टुकड़ों में ज़मीन के बँटे होने के कारण जो थोड़ी-बहुत कठिनता होती है, या समय लगता है, उसका भी खास असर किसान की आर्थिक स्थिति पर नहीं पड़ता। हिन्दुस्तान के किसान के पास बहुत समय ख़ाली रहता है। फिर भी यदि इसका ख़याल न करें, तो टुकड़ों में भूमि-विभाजन से दो फ़ीसदी से ज्यादा नुक़सान किसान को नहीं होता और इससे किसान की आर्थिक समस्या किसी तरह हल नहीं होती।

यदि हम इस समस्या पर कुछ गहरा विचार करें तो हमें मालूम होगा कि यह भूमिविभाजन स्वयं भी किसी और चीज़ का परिणाम है। भूमि पर भार इतना अधिक बढ़ गया है और लोग रोज़ी का एकमात्र साधन समझकर खेती की ओर इतनी ज्यादा मात्रा में दौड़ रहे हैं कि जब पिता की मृत्यु पर जायदाद बटती है, उसके टुकड़े बढ़ते जाते हैं। इन टुकड़ों को एक करने में अनेक क्रियात्मक कठिनाइयाँ भी जायदाद के बटवारे के समय पैदा होती हैं। सारी ज़मीन एक-सी नहीं होती। कोई गाँव के पास होती है, कोई दूर। किसी ज़मीन पर पानी लगता है, किसी पर नहीं। इसलिए हरेक टुकड़े में से थोड़ा-थोड़ा प्रत्येक को लेना पड़ता है। यदि किसी तरह क़ानून बनाकर सब ज़मीनें इकट्ठी भी कर दी जायँ, तो फिर आगे उनके न बँटने की गारंटी नहीं हो सकती। बड़ा भाई ही सारी जायदाद ले और शेष भाइयों को उसका मुआवज़ा दे, यह क़ानून भी ज़मीनों के बटवारे को नहीं

रोक सकता; क्योंकि बड़ा भाई मुआवज़ा देने के लिए कुछ-न-कुछ ज़मीन बेचेगा। जबतक वर्तमान ज़मींदारी-पद्धति चालू है, तब-तक भी इस दिशा में प्रगति होनी संभव नहीं है। ज़मींदार को ज़मीन की उन्नति से कोई मतलब नहीं, उसे तो किसान से ज़्यादा-से-ज़्यादा खींचने से मतलब है। वह ज़्यादा-से-ज़्यादा लगान वसूल करने के लिए बढ़िया और नाक़िस दोनों प्रकार की ज़मीनों को मिलाकर काश्तकार को देता है। फिर जबतक एक गाँव की पूरी मिलकियत एक ज़मींदार के हाथ में न हो, ज़मीनों का एकसाथ विभाजन असम्भव है।

पंजाब में सरकार ने अलग-अलग टुकड़ों को एक करने की जो योजना बनाई है, उसमें जो सफलता हुई, उसके कुछ कारण हैं; लेकिन अन्य प्रान्तों में तो बिलकुल सफलता नहीं हुई। फिर पंजाब में भी जो थोड़ी-बहुत सफलता हुई, वह बहुत ख़र्चीली है। वहाँ टुकड़ों को एक करने में १।~) से २।।≋) तक प्रति एकड़ तक ख़र्च हुआ है। यदि सारे भारत में अलग-अलग टुकड़ों को एक करने का प्रयत्न किया जाय, तो ३३ करोड़ रुपया व्यय हो जायगा। इतनी भारी रक़म सरकार कभी खर्च नहीं कर सकती। अगर किसी तरह यह भारी रक़म ख़र्च कर भी दी जाय, तो जो लाभ होगा वह ख़र्च के मुकाबले में बहुत थोड़ा होगा। भूमि का एकत्रीकरण किसान को बहुत-कम लाभप्रद होगा।

"रूरल इकॉनामी आफ़ इन्डिया" के लेखक श्री मुकर्जी ने अपनी पुस्तक के ३१--३३ पृ० में यह बताया है कि अलग-अलग बिखरे हुए टुकड़ों की वजह से किसान को हानि ही नहीं होती, लाभ भी होता है। टुकड़ों को एकसाथ करने का परिणाम यह होगा कि किसान की भूमि गाँव से बहुत दूर हो जायगी। या तमाम गाँव के रहने वाले किसान बहुत दूर-दूर अपने-अपने खेतों में बिखर जायँगे और गाँव की बस्ती ख़तम हो जायगी।

फिर भूमि के अलग-अलग दूर-दूर के टुकड़ों में बंटे होने के
कारण किसान जुदा जुदा भूमि के अनुसार साल में अलग र
फ़सलें बो सकता है। गाँव के पास की ज़मीन पर उसे खाद
अनायास मिल जाता है। कुछ दूर की ज़मीन पर कुआँ का या
नहरी पानी मिल जाता है। ज्यादा दूर की ज़मीन पर उसे सिर्फ़
वर्षा पर निर्भर रहना पड़ता है। पास की ज़मीन पर वह ऐसी
ही फ़सल बोयेगा जिसपर अधिक ध्यान रखने की ज़रूरत है।
कभी एक ज़मीन की फ़सल ख़राब हो गई तो दूसरी ज़मीन से
ही कुछ मिल जाता है। इस तरह दूर-दूर के टुकड़े, बीमे की
भाँति किसान को सहायता देते हैं।

आबादी में वृद्धि

हिन्दुस्तानी किसान की ग़रीबी का तीसरा कारण यह बताया
जाता है कि यहाँ की जनसंख्या बहुत तेज़ी से बढ़ रही है। यहाँ
आबादी बढ़ रही है, यह मानते हुए भी इसे ग़रीबी
का कारण नहीं कहा जा सकता; बल्कि यह भी
ग़रीबी का ही एक परिणाम है। अर्थशास्त्र का यह
प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि गरीब श्रेणियों में जनसंख्या का अनुपात
अधिक होता है। यदि यह सिद्धान्त झूठा नहीं है तो भारत में भी
जनसंख्या की वृद्धि ग़रीबी का कारण न होकर यहाँ की ग़रीबी का
ही परिणाम है। इसलिए यदि ग़रीबी दूर हो जायगी, तो जन-
संख्या की अधिक वृद्धि भी स्वयं कम हो जायगी।

इंगलैण्ड से तुलना

एक बात और भी। जनसंख्या की वृद्धि केवल हिन्दुस्तान में ही
तो नहीं हो रही है। यह सभी देशों में हो रही है और भारत से
कम अनुपात में नहीं। यदि भारत में और देशों से
ज़्यादा अनुपात में आबादी बढ़ती होती, तभी इस
कारण के औचित्य का समर्थन किया जा सकता था।
१८७३ से लेकर इंगलैण्ड की जनसंख्या में जो वृद्धि हुई, वह भारत
की जनसंख्या वृद्धि से बहुत अधिक हुई है। इंगलैण्ड में १८६१

से १६०१ तक १२.१७ फ़ीसदी, १६०१ से १६११ तक १०.१७ फ़ीसदी और १६११ से १६२१ तक ४.०१ फ़ीसदी आबादी बढ़ी है। जबकि भारत में १८६१ से १६०१ तक सिर्फ़ २.४ फ़ीसदी और १६०१ से १६२१ तक ७ फ़ीसदी आबादी बढ़ी है। ये आँकड़े स्पष्ट बता रहे हैं कि भारत में जनसंख्या वृद्धि का अनुपात इंगलैण्ड से बहुत कम है। फिर पिछले ५० सालों में इंगलैण्ड से जो बहुत भारी संख्या उपनिवेशों में बसने चली गई है, उसे भी ख़याल में रक्खा जाय, तो इंगलैण्ड की जनसंख्या-वृद्धि का अनुपात और भी बढ़ जायगा। इसलिए भारत को इस बारे में ज्यादा अपराधी नहीं ठहराया जा सकता। यदि इतनी आबादी बढ़ने से इंगलैण्ड ग़रीब नहीं हुआ तो भारत ही की ग़रीबी का कारण क्यों जनसंख्यावृद्धि बताया जा रहा है; हालाँकि भारत में कम अनुपात से आबादी बढ़ी है। फिर एक बात और। भारत तो कृषि-प्रधान देश है। वह न सिर्फ़ अपने देशवासियों के लिए अन्न पैदा करता है; बल्कि बाहर भी अनाज भेजता है, जबकि इंगलैण्ड को अपनी भोजन-संबंधी जरूरतें पूरी करने के लिए दूसरे देशों का मुख देखना पड़ता है। तब ऐसा कौन-सा कारण है कि भूखे पेट की समस्या हिन्दुस्तान को ही तंग करती है, इंगलैण्ड को नहीं सताती? यदि जनसंख्या-वृद्धि ही भूखे पेट का कारण होती तो आज इंगलैण्ड की हालत भारत से भी कहीं ज्यादा खराब होती। कुछ सालों से यूरोप के अनेक देशों में सन्तानवृद्धि का जो प्रभावशाली आन्दोलन चला है, उसका भी परिणाम वहाँ ग़रीबी नहीं हुआ।

संख्यावृद्धि ग़रीबी का कारण नहीं

दरअसल एक परिवार की केवल सदस्य-संख्या उसकी ग़रीबी का कारण नहीं हो सकती। यह हो सकता है कि एक परिवार के चार सदस्य हों और वे सभी कमाते हों, जबकि दूसरे परिवार में सिर्फ़ दो ही सदस्य हों और वे दोनों बेकार

हों। इस हालत में पहला परिवार अधिकसंख्यक होते हुए भी सम्पन्न होगा और दूसरा निर्धन। पहला परिवार किसी पाँचवें कमाने वाले सदस्य का स्वागत करेगा और दूसरा परिवार एक छोटे-से बालक को भी पसन्द नहीं करेगा। यही हालत देशों की है। इंग्लैण्ड तथा अन्य देशों के निवासियों को रोजगार आदि के जो साधन प्राप्त हैं, वही यदि भारत को मिले होते, तो वह ४० करोड़ प्राणियों तक का पेट पाल सकता था; लेकिन हिन्दुस्तान में वेकारी नामक राक्षसी जो ताण्डव खेल रही है, वह बहुत भंयकर है। भारत-सरकार इसके संबंध में बहुत उदासीन है। जब कभी किफ़ायतशारी करनी होती है, तभी ग़रीब हिन्दुस्तानियों के गले पर उसका कुल्हाड़ा चलता है और भारी-भारी तनख्वाह पाने वाले अंग्रेज अफ़सर साफ़ बच जाते हैं। इंगलैण्ड में अगर सरकार ऐसा क़दम उठाती तो एकदिन भी न टिकने पाती। भारत सरकार को तो देश में बढ़ती हुई वेकारी की चिन्ता ही नहीं। उसने तो भारतीयों के सैंकड़ों बार अनुरोध करने पर भी अभी तक वेकारी के आँकड़े तक तैयार नहीं कराये। भीषण बेरोज़गारी की वजह से ही भारतीयों की बड़ी भारी संख्या खेती की ओर लगी हुई है। १९३१ की जन-संख्या के अनुसार भारत में गाँवों और शहरों की आबादी क्रमशः ३१.३८६ और ३.८९ करोड़ अर्थात् ८९ और ११ फ़ीसदी थी, जबकि इंग्लैण्ड में यह अनुपात २० और ८०, जर्मनी में ३८ और ६२, संयुक्तराष्ट्र अमेरिका में ४३.८ और ५६.२ तथा जापान में ४४ और ५६ था। १९३१ में कमाने वालों की कुल संख्या १५,२०,५१,२१३ थी, जिसमें से १०,३२,६४,४३६ लोग खेती या तत्सम्बन्धी कामों में लगे हुए थे। उद्योग-धन्धों व खानों में काम करने वालों की संख्या सिर्फ़ १,५६,९७,६५३ थी।

अन्य देशों से तुलना

आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय (सर) ने अपनी पुस्तक "पॉवर्टी प्रॉब्लेम इन इण्डिया" में विभिन्न देशों की आबादी की घनता की नीचे लिखी तालिका दी है:—

नाम देश	प्रति मील घनता
बेलजियम	५४०
इंगलैण्ड	४६८
हालैण्ड	३६०.६
चीन	२८६
इटली	२६३.६
जर्मनी	२३६.७
भारत	२२६
फ्रांस	१८७.८
स्पेन	८०
टर्की साम्राज्य	२४
संयुक्तराष्ट्र अमेरिका	१७.६
रूस	१३

ऊपर लिखी तालिका से स्पष्ट होगया होगा कि भारत की जनसंख्या की घनता ऊंची तो है; लेकिन बहुत अधिक ऊंची नहीं। अनेक यूरोपियन देशों में कहीं ज्यादा घनी आबादी है। फिर पिछले सालों में तो प्रायः सभी यूरोपियन देशों में जनसंख्या बढ़ाने का जो भारी आन्दोलन चल रहा है, उससे तो वहाँ की आबादी बहुत ही बढ़ गई है। जापान एक बहुत छोटा-सा देश है, जहाँ भूकम्प आदि से आबादी कम होती रहती है। उसका क्षेत्रफल और आबादी क्रमशः १,४२,००० वर्गमील और ५,५६,६१,१४० है, जबकि पंजाब का क्षेत्रफल और आबादी क्रमशः १,३६,६२५ वर्गमील और आबादी २५,८५,०२४ है। दोनों के क़रीब-क़रीब

बराबर होते हुए भी जापान पंजाब से २।। गुना आबादी का पालन करता है और वह भी मजे में। याद रहे कि जापान अधिकतया पहाड़ों से घिरा है और खेती के योग्य धरती का रक़बा पंजाब से बहुत कम है। जापान की आर्थिक स्थिति पंजाब से बहुत अच्छी है।

निम्नलिखित कुछ आँकड़े भी इस बात को पुष्ट करते हैं कि भारत की जन-संख्या-वृद्धि अन्य देशों की अपेक्षा ज्यादा भयंकर समस्या नहीं है। १६२१ से १६३० तक के दस सालों में इंग्लैण्ड में औसत मृत्यु-संख्या १२.५ फी हजार थी। फ्राँस में १६.३, जर्मनी में ११.१, संयुक्तराष्ट्र अमेरिका में ११.३, जापान में १८.१७ थी; लेकिन बदकिस्मती से भारत में २४.५ थी। १६३१ की जनसंख्या के अनुसार ब्रिटिश भारत में आदमी की औसत उम्र सिर्फ २६.७ साल थी, जबकि इंग्लैण्ड में ५७.६, संयुक्तराष्ट्र अमेरिका में ५६.४, जर्मनी में ४६.४, फ्राँस में ५०.५, और जापान में ४४.५ थी।

भारत की आबादी कम करने का यह उपाय भी ठीक नहीं कि भारतीयों को अन्य देशोंमें बसाया जाय। जितने भारतीय दूसरे देशों में जाकर बस गये हैं, उन्हींकी हालत बहुत खराब है। पद-पद पर उनका अपमान होता रहता है। जिसकी अपने घर या अपने देश में ही इज्जत नहीं होती, उसका बाहर भी मान नहीं होता। भारत का दरवाजा सब देशों के लिए खुला है; लेकिन उस के लिए सब देशों के दरवाजे बन्द हैं। भारतीय तो अपने घर में ही विदेशी हैं, फिर दूसरे देशों में उन्हें कौन अपनायेगा?

: ३ :

वर्षा की अनिश्चितता

नियमित रूप से होने वाली वर्षा को भी किसान की समृद्धि और अनियमित या कम वर्षा को किसान की गरीबी का कारण बताया जाता है। यदि वर्षा ठीक समय पर और उचित मात्रा में बरस गई, तो किसान खुशहाल हो जाता है और यदि वर्षा ठीक समय पर न हुई, या कम हुई तो किसान पर मुसीबत का पहाड़ टूट जाता है। यह हिसाब लगाया गया है कि ५ सालों में एक साल औसत अच्छी वर्षा पड़ती है। बाकी ४ साल उसे अपनी पुरानी कमाई पर या कर्ज लेकर गुजारा करना पड़ता है। एक साल की अच्छी फसल से किसान ५ साल तक गुजारा नहीं कर सकता। यदि वरुण देवता प्रसन्न हैं तो किसान की खुशी का ठिकाना नहीं और यदि देवता अप्रसन्न हैं, तो किसान के दुःखों का अन्त नहीं। अभी तक विज्ञान वर्षा के नियंत्रण को अपने हाथ में लेने में समर्थ नहीं हुआ। इसलिये भारत के किसान की आर्थिक स्थिति मनुष्य के नियंत्रण से बाहर है। प्रान्तीय और केन्द्रीय असेम्बलियों में अर्थ-सदस्य हमेशा अपने बजट को 'मौनसून का बजट' कहा करते हैं। यदि ठीक समय पर वर्षा हो गई तो, वसूली आशाजनक हो जाती है। यदि वर्षा ठीक समय पर न हुई तो बजट भी घाटे का हो जाता है। रेल, डाक व तार, व्यापार, आयात, निर्यात सभी विभाग किसान पर आश्रित हैं और किसान का (स्वयं) आधार वर्षा है।

ऊपर से यह दलील देखने में बहुत जोरदार दीखती है कि किसान की समृद्धि वर्षा पर निर्भर है; लेकिन कुछ गहरा सोचने

मौनसून का भी

इलाज है

से इसकी भी कमजोरी सामने आ जायेगी। खेती भी अन्य अनेक कलाओं की तरह से एक कला

है, जिसमें मनुष्य विभिन्न विपरीत अवस्थाओं पर अपनी चतुरता से विजय पाता है। वह जमीन पर बीज फेंक कर राम-भरोसे नहीं बैठ जाता। वह हल चलाता है, जमीन में तरी क़ायम रखने की कोशिश करता है, उचित खाद देता है और जमीन को सींचता है। जब घास पैदा हो जाती है, उसे एक-एक करके उखाड़ता है, खेती पर धूप रोकने वाले वृक्ष को वह काट देता है। वह पद-पद पर प्रकृति से संग्राम करता और ज्यादा-से-ज्यादा पैदावार करने के लिए मिहनत करता है। वह हर एक पौदे के बारे में जानकारी रखने की कोशिश करता है और विज्ञान की सहायता लेता है। वह कृत्रिम गरमी और सरदी द्वारा जल-वायु के असर तक को भी पलटने का यत्न करता है। अन्य देशों में भी प्रकृति—महीनों तक पड़ने वाली भारी वर्फ और भयंकर गर्मी इत्यादि चीजें फ़सल पर पूरा असर डालती हैं। इसी तरह भारत में वर्षा की कमी भी एक ऐसी बाधा है, जिसे मनुष्य अपनी चतुरता से दूर कर सकता है।

हर एक हिन्दुस्तानी कृत्रिम सिंचाई की कला को जानता है। नहर, तालाब या कुँए से सिंचाई की प्रथा यहां अनादि काल से चली आई है। यदि अफ्रीका-जैसे गरम मुल्क में कुओं से सिंचाई की व्यवस्था कर जमीन में नमी कायम रक्खी जा सकती है, तो भारत में क्यों नहीं? मद्रास में ऐसे कुए पाये गये हैं, जिनसे एक मिनट में ४०० गैलन पानी स्वयं उबल कर धरती से ऊँचा उठ जाता है। ऐसे कुँए शेष प्रान्तों में भी स्यात खोदे जा सकें। एक सदी भी नहीं बीती कि पंजाब खेती के खयाल से बहुत पिछड़ा हुआ प्रान्त था; लेकिन सरकारी कोशिशों और नहर का जाल-सा बिछाने के बाद आज वह सब प्रान्तों से आगे बढ़ गया है। मनुष्य क्या नहीं कर सकता? इस तरह मौनसून को भी किसान की गरीबी का कारण नहीं कहा जा सकता। यदि कुछ कहा जा सकता है, तो सिंचाई के तरीकों की ओर से सरकार की

भयंकर उदासीनता को दोष दिया जा सकता है।

हिन्दुस्तान बड़ी-बड़ी नदियों का देश है। यहाँ आसानी से नहरों का जाल बिछाया जा सकता है। भारतवर्ष में ज़मीन के नीचे पानी के सोते बहते हैं, जहाँ से ट्यूब-वैलों* द्वारा भी जमीन से पानी सिंचाई के लिये निकाला जा सकता है। भारत में औसत वर्षा ३७ इंच होती है, जो फसल पकने के लिये काफी है; लेकिन हम अपने अज्ञान और अपनी साधनहीनता से उसका उपयोग नहीं करते। सिंचाई-कमीशन-रिपोर्ट के अनुसार वर्षा-जल का ३५ फीसदी पानी समुद्र में चला जाता है। यदि यह पानी भी सिंचाई के इस्तेमाल में लाया जा सके, तो बहुत-कुछ लाभ हो जाय; लेकिन बदकिस्मती से अभी तक सिर्फ १६ फीसदी खेतों ही में सिंचाई की व्यवस्था हो सकी है, शेष ८४ फीसदी खेत रामभरोसे रहते हैं। यह भी कहा जाता है कि बड़े-बड़े जंगल कटने से वर्षा कम होने लगी है। यदि यह सच हो तो सरकार को इधर भी ध्यान देना चाहिये।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि मौनसून की कमी से भारतीय किसान गरीब नहीं होता; प्रत्युत उस कमी का प्रतिकार करने की शक्ति न होने के कारण उसकी आमदनी कम हो गई है।

---

*हमें प्रसन्नता है कि हमारे लिखने के पश्चात् संयुक्तप्रांत में ट्यूब-वैल लगाने आरम्भ किये गये हैं और अब खासा रक़बा इनसे सींचा जाता है। —लेखक।

: ४ :

किसान की फिजूलखर्ची और भारी सूद-दर

किसानों की गरीबी के कारणों पर रोशनी डालते हुए अनेक अर्थ-शास्त्रियों ने किसानों की फ़िजूलखर्ची और लापरवाही को भी एक कारण माना है। उनका कहना है कि किसान शादी व दूसरे त्यौहारों पर अपनी ताकत से ज्यादा खर्च करता है और इसके लिए वह भारी सूद पर कर्ज लेता है। यह सूद बढ़ते-बढ़ते उस पर असह्य बोझा होजाता है। यह बहुत दुःख की बात है कि किसानों के निकट संपर्क में जाने, उनके स्वभाव और उनकी परिस्थितियों को समझने की कोशिश किये बिना अधिकांश अर्थ-शास्त्री उनके सम्बन्ध में लिखते हैं। वस्तुतः यह अनधिकार चर्चा है। हरएक मनुष्य अपनी चारों ओर की परिस्थितियों से बाधित होकर काम करता है। भारतीय किसान भी इसका अपवाद नहीं है। पढ़े-लिखे लोग व्यर्थ के खिताबों या आनरेरी आफ़िसों को लेने के लिये या म्यूनिसिपल चुनाव लड़ने के लिये हजारों रुपया पानी की तरह बहा देते हैं। उन्हें कोई फ़िजूलखर्च नहीं कहता; लेकिन ग़रीब पर सब अपनी जोर-अज़माई करते हैं और उसकी आलोचना करने का अपने को अधिकारी मान लेते हैं।

किसानों की फ़िजूलखर्ची

किसान का समस्त जीवन लगातार नीरसता और शुष्कता में बीतता है। बहुत सवेरे से वह रात तक कठोर नीरस परिश्रम करता है। रातें उसे खेत पर गुज़ार देनी पड़ती हैं। वह बड़े-बड़े शहरों की हलचलों से अलग रहता है। दुनिया की कोई खबर उसे तभी मालूम होती है, जब किसी की मार्फ़त पुराने अख़बार का कोई टुकड़ा गाँव में पहुँच जाता है। सिनेमा, थियेटर या किसी और सार्वजनिक मनोरंजन से वह

स्वाभाविक है

कोसों दूर है। बहुत कम बार उसे पढ़े-लिखे लोगों के व्याख्यान सुनने का मौका मिलता है। उसकी जिन्दगी में कोई नई विशेषता नहीं, नई तबदीली नहीं आती। सारी जिन्दगी एक ही ढर्रे से मिहनत करते-करते बीत जाती है। यदि कभी भाग्य से कोई विवाह या दूसरा त्यौहार आकर उसकी शुष्कता और नीरसता को भंग करता है, तो यह स्वाभाविक ही है कि वह खूब खुश हो और अपनी ताक़त से बाहर भी कुछ ख़र्च कर दे। जीवन भर में एक-दो बार आने वाले शुभ अवसर परिवार में महत्वपूर्ण माने ही जाते हैं। ऐसे मौकों पर रिश्तेदारों व मित्रों को भोजन कराने के नाम से इकट्ठा करना और खुशी मनाना असाधारण और अस्वाभाविक बात नहीं है। अपनी सामर्थ्य से बाहर खर्च नहीं करना चाहिए, यह मानते हुए भी हम किसानों को, जिनका सारा जीवन शुष्क और नीरस बीत जाता है, ऐसे मौकों पर दो-चार पैसे ज्यादा ख़र्च करने के लिए दोष नहीं दे सकते। दर असल किसानों की कठोर आलोचना करना उन्हें क़तई शोभा नहीं देता, जो स्वयं उनके मामले में कोई दिलचस्पी नहीं लेते। क्या ऐसे मौकों पर शिक्षित और नामधारी सभ्य लोग किसानों के सामने इससे कुछ अच्छा आदर्श रखते हैं? क्या ऐसे लोग कभी थोड़ा-सा कष्ट उठाकर किसानों के घर जाते हैं और उन्हें कोई सीख देने की कोशिश करते हैं?

फ़िज़ूलख़र्ची की सामाजिक प्रथाएँ उन समृद्ध दिनों की अवशेष मात्र हैं, जब किसान का कोठार सदा अन्न से भरा रहता था और दूध-दही की उसे कमी न थी। खुशहाली के उन दिनों शादी आदि त्यौहारों पर अपने बंधु-बान्धवों को निमंत्रण देना बड़ी खुशी की बात थी। उन दिनों उसका ख़र्च भी बहुत न होता था; क्योंकि उसका कोठार खाली न रहता था। आज-कल जैसे शिक्षित लोग अपने अफ़सरों व मित्रों को पार्टी दिया करते हैं, उसी तरह ग्राम-

वाले भी ऐसे मौकों पर अपनी बिरादरी को बुलाकर जीवन की नीरसता को तोड़ने और नव उत्साह व नयी स्फूर्ति भरने की कोशिश करते थे। उन दिनों क्या कोई यह सोच भी सकता था कि धन-धान्य व प्राकृतिक साधनों से सम्पन्न देश, जहाँ ज़मीन खूब पैदावार देती थी, जहाँ के बैल तन्दुरुस्त व मोटे-ताजे थे, जहाँ गौ के दूध की नदियाँ बहती थीं, कभी इस शोचनीय स्थिति को प्राप्त हो जायगा कि उसके पुत्र आधे पेट और आधे नंगे सोयेंगे !!!

पुरानी आदतें जल्दी नहीं बदलतीं और यदि किसान अपनी खुशहाली की आदतें नहीं छोड़ सकता तो हमें उस पर बहुत सख्त नहीं होना चाहिए। फिर जीवन में काम जितना महत्व रखता है, मनोरंजन व विनोद का भी उससे कम महत्व नहीं है। यदि किसान से उसका वर्तमान मनोरंजन ले लिया जाय, तो उसे दूसरे प्रकार का मनोरंजन मुहय्या करना पड़ेगा। वह भी उसकी ताक़त से बाहर होगा।

किसान की बेवकूफ़ी और लापरवाही का एक उदाहरण यह दिया जाता है कि वह बहुत महंगे दामों पर ज़मीन ख़रीदता है; लेकिन दरअसल ऐसा कहनेवाले उन परिस्थितियों को भूल जाते हैं, जिनसे विवश होकर उसे ज्यादा दाम देने पड़ते हैं। अन्य देशों में किसान को ज़मीन खरीदने के लिए सरकार सब सुविधाएँ देती है। ६० सालों की किश्तों में ३ फ़ीसदी सूद पर रुपया दिया जाता है, तथा और भी सब प्रकार की सहूलियतें दी जाती हैं; लेकिन हिन्दुस्तान में अगर कोई किसान ज़मीन खरीदने की कोशिश भी करता है, तो समाज और क़ानून उसके मार्ग में बड़ी-बड़ी बाधाएँ डालते हैं। किसान किसी और व्यापार में भी तो रुपया नहीं लगा सकता। वह खेती और ज़मीन के बारे में ही कुछ जानता है और इसीलिए

किसान की भीषण परिस्थितियां

खेती में रुपया लगाता है।

भारत का किसान जिन विषम परिस्थितियों में काम करता है; उनका ज्ञान बहुत कम लोगों को है। हम यक़ीनन कह सकते हैं कि कोई पढ़ा-लिखा, खेती से पूरा जानकार और अर्थ-शास्त्र का विद्वान भी उन हालतों में तीन साल से अधिक जीवित नहीं रह सकता। यह वक्तव्य साहसपूर्ण अवश्य है; लेकिन हमें इसकी सत्यता पर पूरा यक़ीन है। खेती कालेजों के अनेक शिक्षित व कृषिविशेषज्ञों को हम जानते हैं कि अपनी साधनसम्पन्नता के बावजूद भी कुछ सालों से अधिक खेती न कर सके और कोई नौकरी ढूँढ़ने पर विवश हुए। सरकारी-खेती-विभाग के बड़े-बड़े अनुभवी कृषि-विशेषज्ञ अफ़सर भी नौकरी से रिटायर होकर खेती के फ़ार्म बना कर नहीं बैठते। वे भी रियासतों में नौकरी तलाश करते हैं या दूसरे पेशों में लग जाते हैं। आख़िर शिक्षित लोग खेती क्यों नहीं करते? इसका जवाब साफ़ है कि खेती में नफ़ा नहीं होता और मेहनत व पूँजी बेकार जाती है। हमारा यह विश्वास है कि हिन्दुस्तानी किसान न केवल धैर्यशाली और कठोर परिश्रमी है; लेकिन गजब का मितव्ययी भी है। उस पर फ़िज़ूल-खर्ची का जो इलजाम लगाया जाता है, वह बिलकुल झूठा है। सरकार द्वारा नियत साहूकारी-जाँच-कमेटी की अधिकाँश प्रांतीय कमेटियों की भी यही राय थी। केन्द्रीय कमेटी ने भी फिज़ूलखर्ची ऋणग्रस्तता का प्रधान कारण है, इस आक्षेप का समर्थन नहीं किया। प्रान्तीय कमेटियों की रिपोर्टें पढ़कर हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि किसानों का जो चित्र हमारे सामने अक्सर खींचा जाता है, वह कोरी कल्पना है।

आमतौर पर कहा जाता है कि किसान की आमदनी का एक बड़ा भारी हिस्सा सूदखोर महाजन ले लेता है। किसान की दरिद्रता का एक बड़ा भारी कारण उसकी कर्जदारी है। भारी सूद

पर कर्ज लेकर जैसे और कोई व्यापार नहीं चलाया जा सकता, उसी तरह खेती भी फ़ायदेमन्द साबित नहीं हो सकती। कर्ज और भारी सूद की वजह से शनैः-शनैः खेत किसान के हाथ से निकल कर महाजन के हाथ में जा रहे हैं।

कर्ज पर भारी सूद

हम मानते हैं कि किसान बुरी तरह कर्ज के बोझ से दबे हुए हैं और सूद-दर भी बहुत भारी है; लेकिन इसी कारण हम यह नहीं मान सकते कि उसकी ग़रीबी का कारण ऋणग्रस्तता है। दरअसल यह भी ग़रीबी का कारण नहीं, किसान की ग़रीबी का परिणाम-मात्र है।

यदि हम भारत की बैंक-दर की अन्य देशों की बैंक-दरों से तुलना करें तो हमें बहुत फ़र्क मालूम होगा। यहाँ कुछ साल पहले तक सदा बैंक-दर ६ फीसदी रही, जबकि अन्य देशों में सूद की बैंक-दर ३ फ़ीसदी से भी ऊँची नहीं हुई। गत महासमर के खुशहाली के दिनों में भी इंग्लैण्ड में बैंक की दर ५ फीसदी से ऊपर नहीं गयी। जर्मनी में गत महा-युद्ध के बाद सूद की दर ३० फीसदी तक ऊंची उठ गयी थी; लेकिन कुछ ही सालों बाद २॥ फीसदी तक नीचे गिर गई। ब्रिटेन में जब सितम्बर १६३२ में स्वर्णमान छोड़ने का निश्चय हुआ, बैंक की दर ६ फीसदी थी; लेकिन सरकार और व्यापारिक महारथियों ने मामले को इस तरीके से सुलझाया कि बैंक-दर २ फीसदी तक गिर गई। २ फीसदी दर इससे पहले पिछले ३५ सालों से कभी सुनी भी नहीं गई। पिछले नौ महीनों के थोड़े-से समय में ग्रेट-ब्रिटेन ज्यादा सम्पन्न नहीं होगया। बात यह है कि वहाँ की सरकार यह जानती है कि सूद कम होने और रुपये के सुलभ होने पर ही व्यवसाय फल-फूल सकता है; लेकिन बदकिस्मती से यह सचाई हमारे हिन्दुस्तान में अनुभव नहीं की

भारत में ब्याजदर

जाती। यहां बैंक की दर कुछ साल पहले तक हमेशा ही ऊँची रही है। यहाँ मुद्रा और विनिमय की जो नीति निर्धारित की जाती है, वह सदा भारतीय हितों के लिए नुक्सानदेह होती है। यहाँ बैंक-दर भी कभी नीचे गिरने नहीं दी जाती। आजकल की भांति जब कभी बैंक-दर ६ फीसदी से नीचे गिर भी जाती है, तब भी ग़रीब आदमी कर्ज नहीं ले सकता। उसके पास न तो जायदाद है, न आमदनी की स्थिरता, जिसके बल पर वह कम सूद पर व्याज ले। दरअसल भारी सूद उसकी ग़रीबी का कारण नहीं; बल्कि परिणाम है।

खतरे का धन्धा

साहूकारी या लेनदेन सिर्फ मांग और प्राप्ति के नियम पर नहीं चलता। ख़तरे का उसूल भी सूददर पर काफी असर डालता है। आज भी युक्तप्रांत में एक सम्पन्न किसान ६ फीसदी सूद पर कर्ज ले सकता है, जबकि सहकारी-समितियाँ अपने सदस्यों से वसूली की सब किस्म की सहूलियतें होते हुए भी १५ फीसदी से कम नहीं लेतीं। एक महाजन रुपया देने से पहले यह सोचता है कि इस लेन-देन में उसे खतरा भी उठाना पड़ेगा। एक किसान ने कर्ज लेकर बैल खरीदे हैं, भारी लगान की शर्त पर ज़मींदार से जमीन ली है, उधार ही बीज लिया है। उसके पास रहन रखने के लिए न अपना घर है, न गहने। और उसकी जमानत उसके जबान के सिवा कुछ नहीं है। ऐसा किसान जब महाजन के पास जाता है, तब महाजन उसे रुपया देकर खतरा उठाता है। उसकी फसल का भी तो कोई भरोसा नहीं—वर्षा ठीक समय पर न हुई, बाढ़ आ गई, ओला पड़ गया या कीड़ा लग गया। महाजन स्वभावतः इतना ख़तरा उठाकर ऊँची सूद दर से रुपया देगा। यह साफ है कि यह ऊंची दर किसान की ग़रीबी का ही परिणाम है।

ऊंची सूद दर का एक और भी प्रधान कारण है। एक मनुष्य दूसरे की गरज़ का नाजायज़ फायदा उठाता है। किसान जब महाजन के पास जाता है, तब बहुत गरज़मन्द होकर ही जाता है। उसे यदि समय पर रुपया न मिले, तो वह बैल या बीज नहीं खरीद सकता। वर्षा होने पर उसे हल चलाना ही चाहिये। मौसम पर उसे बोना ही चाहिये। दस-पन्द्रह दिन की देरी का अर्थ है फसल को खोना। एक तरफ़ किसान सूद की ऊंची दर देखता है और दूसरी तरफ़ खतरा है कि सारा सालभर बेकार न जाय और एक भी दाना उसे न मिले। हल चलाने के दिनों में उसे कोई पड़ोसी भी बैल नहीं देता। महाजन किसान की ग़रीबी का नाजायज़ फ़ायदा उठाता है और किसान भी चुपचाप भारी सूद देना मंजूर कर लेता है। किसान सारा साल ख़र्च करता रहता है। साल भर बाद फ़सल पकने पर कुछ हिस्सा तो उसी दिन लगान, सूद, आदि में चला जाता है, बाकी थोड़ी-सी बची आमदनी से उसे अपना व खेती का सालभर खर्च चलाना होता है। जब पढ़े-लिखे नियत आय वाले हज़ारों बाबू अगला वेतन मिलने से पहले अपनी जेब खाली कर देते हैं, तब किसान से यह उम्मीद कैसे की जा सकती है कि थोड़ी-सी एक बार, वह भी अस्थिर, आमदनी से साल भर का संतुलित बजट बना लेगा? फिर अशिक्षा के कारण भी उसे ज्यादा सूद देना पड़ता है। आश्चर्य तो यह है कि इतनी विषम परिस्थितियों से वह अब तक कैसे बचकर निकलता रहा है?

किसान की विवशता

जो समालोचक महाजन को नीच और शरारती आदि गालियां दिया करते हैं, शायद यह भूल जाते हैं कि इंगलैण्ड-जैसे देशों में सरकार बहुत कम सूद पर बहुत ज्यादा रुपयों से किसानों को सहायता देती हैं। कुछ ही साल पहले कृषि-साख-क़ानून १९२८ के अनुसार

सरकार की सूदखोरी

इंगलैण्ड की सरकार ने १५ लाख पौण्ड (१ करोड़ ६० लाख रुपये) किसानों को सहायतार्थ बांटे थे। इन पर एक पैसा भी सूद नहीं लिया गया। ६० सालों में जाकर किश्तों में ये रुपये वसूल किये जायँगे। दूसरी तरफ हिन्दुस्तान है, जहां लोग अकाल से भूखे मर रहे हैं, सरकार ७॥ फीसदी सूद पर कर्ज देती है और वह भी दो-तीन सालों में वसूल कर लिया जाता है। पाठक 'तक़ावी' का मतलब जरूर जानते होंगे। किसान को कम मिलता है और ठीक समय पर देना पड़ता है। इसका अर्थ यह है कि उसे काफ़ी सूद देना पड़ता है। जहां सरकार ही ६ फीसदी के हिसाब से कर्ज लेती है, वहां सूद-दर भी ज्यादा होना स्वाभाविक है।

इसका मतलब यह नहीं कि साहूकारों की ज्यादती या ऊंची सूद-दर का हम समर्थन करते हैं। व्यवसाय और खेती की उन्नति के लिए कम सूद पर रुपया मिलना जरूरी है। हमारा कहना तो यही है कि भारत-जैसे ग़रीब देश में ऊंची दर स्वाभाविक है और ऋण-ग्रस्तता कारण नहीं, ग़रीबी का परिणाम है।

भाग २ : जाँच

प्राचीन आदर्श

एक पुरानी हिन्दी कहावत है—"उत्तम खेती मध्यम बान, निकृष्ट चाकरी भीख निदान।" जब यह कहावत प्रचलित हुई थी, तब खेती को सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता था। लेकिन आज किसान की हालत सबसे खराब है। भारत का तीन चौथाई व्यापार कृषिजन्य पदार्थों का होता है। व्यापारी लाखों रुपये कमाते हैं; लेकिन अनाज पैदा करने वाले किसान की हालत २०) रु० के क्लर्क या १०) रु० के अदालत के अर्दली से भी खराब है। सरकार की आमदनी का अधिकांश भाग किसान चुकाता है; रेल, डाक, अदालत, टिकट और चुंगी तथा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करों के रूप में किसान करोड़ों रुपया सरकार को देता है; लेकिन उसको अपनी हालत बहुत शोचनीय है। इस में कोई संदेह नहीं कि किसान का पेशा सबसे श्रेष्ठ है, वही समस्त समाज में सबसे अधिक कठिन परिश्रम करता है और वही सच्चे अर्थों में उत्पादक है। भाग्य का फेर देखिए कि अन्न का उत्पादक भूखों मरता है और उसके माल के व्यापारी मौज उड़ाते हैं।

आखिर किसान की यह हालत कैसे हो गई? इस परिवर्तन के कारणों पर विचार करने के लिए हमें प्राचीन काल के ग्रामों की अवस्था का अध्ययन करना चाहिए। इससे हम किसान की दयनीय हालत के कारणों को भी समझ सकेंगे।

: १ :

प्राचीन ग्राम

पुराने ज़माने के गाँव और आजकल के गाँव में जो ख़ास फ़र्क़ है, वह यह कि पहले गाँव अपने आप में पूरी एक इकाई थी और आज़कल वह किसी बड़ी इक़ाई का एक भाग है। इसका यह अर्थ नहीं कि पहले एक गाँव का दूसरे गाँवों या शहरों से कोई सम्बन्ध ही न था। हमारा मतलब यह है कि उन दिनों भारत में ज्यादा सामाजिक और ज्यादा प्रजातन्त्रीय जीवन था। प्रत्येक गाँव अपने में पूर्ण था और अपनी ज़रूरतों के लिए बाहरी दुनिया पर निर्भर न करता था। गाँव में खूब अनाज पैदा होता था। अपनी ज़रूरतों के बाद जो बच जाता था, वह अकाल या और किसी विपत्ति के समय के लिए कोठार में भर दिया जाता था। सरकारी टैक्स या और देनदारियों के लिए जितना ज़रूरी होता था, उतना ही अनाज गाँव के बाहर भेजा जाता था। उस में से भी काफी हिस्सा गाँव में रहने वाले सरकारी कर्मचारियों में बाँटने के लिए गाँव में ही रक्खा जाता था। अपनी ज़रूरतभर रुई भी गाँव में ही पैदा की जाती थी। रुई की सफाई, पिंजाई और कताई व बुनाई सब गाँवों में होती थी। ये वे दिन थे, जब यूरोप वाले जंगलियों की तरह रहते थे। उन्हें कपड़ा पहनने का भी शऊर न था और वे वृक्षों की छालों से अपने शरीर ढकते थे। बहुत दिन बाद उन्हें कपड़ा बनाना आया। हिन्दुस्तान के हर-एक गाँव में कपड़ा काफी मिलता था, चाहे वह आजकल का सा बढ़िया न होता हो; लेकिन बहुत से गाँव बहुत ही महीन, विविध प्रकार के बढ़िया कपड़ों के लिए प्रसिद्ध थे। ये कपड़े हिन्दुस्तान से बाहर काफी मात्रा में जाते थे। इंग्लैण्ड ही भारतीय वस्त्रों का बहुत बड़ा ख़रीददार था। हिन्दुस्तान का यह व्यापार किस तरह

नष्ट किया गया, इसकी करुण कहानी लिखने का यहाँ स्थान नहीं है।

हरेक गाँव की हदबन्दी होती थी और उसके अन्दर की सारी जमीन पर सारे गाँव का सम्मिलित अधिकार होता था।

गावों का खुशहाली

जमीन पर किसी व्यक्ति का अधिकार न था, गाँव के बड़े-बूढ़े लोग परिवारों की आवश्यकता के अनुसार ग्रामवासियों को जमीनें बाँट देते थे। समय-समय पर जरूरत के मुताबिक़ जमीनों का पुनर्विभाजन भी होता रहता था। चरागाह के लिए भी काफ़ी जमीन छोड़ी जाती थी। अच्छी नसल के मवेशी हरेक गाँव में काफ़ी तादाद में मिलते थे। दूध-दही की नदियाँ बहती थीं। लुहार, बढ़ई, कुम्हार आदि सभी गाँव में रहते थे। गाँव पूर्ण रूप से आत्मनिर्भर था।

कोई विदेशी व्यक्ति जब भारत की प्राचीन ग्रामव्यवस्था का अध्ययन करने लगता है, तब वह यह देखकर सचमुच हैरान हो जाता है कि उन दिनों जब मानव-हृदय आज-जैसा विकसित न हुआ था, हिन्दुस्तान के भोले-भाले सीधे-सादे देहाती किस सुन्दर ढंग से अपना संगठन करते थे और दीवानी, फ़ौजदारी, आर्थिक, सामाजिक या धार्मिक सभी प्रकार के झगड़ों का आपस में निपटारा कर लेते थे। बिना किसी प्रकार की अदालती कार्रवाई, बिना कोई टिकट लगाये या फ़ीस दिये, बिना किसी वकील की सहायता के बड़े-बड़े पेचीदे मामलों को इतनी सादगी और पूर्णता के साथ हल कर लेना वस्तुतः आश्चर्यजनक है। यही पुराने ग्राम-संगठन की खूबी है। सब गाँववालों में इस संगठन को चलाने के लिए जिस सुन्दर सिद्धान्त पर अमल किया जाता था, वह यह था—"अपने अधिकारों की अपेक्षा अपने कर्तव्य की अधिक चिन्ता करो।"

सन् १८१२ में हाउस आफ कामन्स की सिलैक्ट कमेटी द्वारा प्रकाशित एक रिपोर्ट से मालूम होता है कि उन दिनों मद्रास के एक गाँव में निम्नलिखित अफ़सर व सरकारी कर्मचारी काम करते थे:—

गांव के अफ़सर

१-**मुखिया**—यह ग्राम-सम्बन्धी सब कामों का निरीक्षण करता, ग्रामवासियों के झगड़े सुलझाता, पुलिस की व्यवस्था करता और लगान आदि सरकारी टैक्स वसूल करता था। इसे ग्रामवासी ही चुनते थे।

२-**मुंशी या पटवारी**—यह गाँव की पैदावार व तत्सम्बन्धी हिसाब-किताब रखता था।

३-**चौकीदार**—चौकीदार दो किस्म के होते थे। बड़ा और छोटा। बड़े चौकीदार का कार्य अपराधों का पता लगाना और यात्रियों की रक्षा करना था; छोटे चौकीदार का काम गाँव की ख़बरदारी करना, फसल की रक्षा करना तथा उसे मापने आदि के कामों में सहायता देना था।

४-**हदबन्दी करने वाला**—इसका काम गाँव की सीमाओं की रक्षा करना और सीमा-सम्बन्धी झगड़ों में गवाही देना होता था।

५-**जल निरीक्षक**—यह कुओं और तालाबों का निरीक्षण करता था और खेती के लिए अलग-अलग खेतों में पानी बाँटता था।

६-**पुरोहित**—गाँव में पूजा आदि का कार्य इसके ज़िम्मे होता था।

७-**स्कूलमास्टर**—गाँव के बालकों को पढ़ाना और लिखना सिखाना इसका काम होता था।

८-**ज्योतिषी**—बीज बोने और फ़सल काटने के लिए शुभ व अशुभ दिवस बताया करता था।

इसके अलावा लुहार, बढ़ई, कुम्हार, धोबी, नाई, ग्वाला,

डाक्टर, नर्तिका, संगीतज्ञ, व कवि भी प्रत्येक गाँव में होते थे।

इनमें से मुखिया, पटवारी और चौकीदार का काम काफ़ी महत्वपूर्ण था। मुखिया ग्राम की सरकार का शासक और प्रबन्ध-कर्ता होता था। चौकीदार उसके नीचे रहकर काम करता था और पटवारी उसे ज़मीनों का हिसाब रखने तथा दूसरा हिसाब-किताब रखने में सहायता देता था। हरेक गाँव में एक पंचायत होती थी और उसी के आधीन उपर्युक्त तीनों सरकारी कर्मचारी की हैसियत से काम करते थे। चौकीदार, पटवारी आदि को गाँव ही वेतन देता था।

गाँवों की सबसे मुख्य संस्था ग्राम-पंचायत होती थी। इसका संगठन प्रजातन्त्र के सिद्धान्त पर होता था। सारे गाँव का शासन और न्याय आदि इसी के सुपुर्द होता था। टैक्स, बाग, सिंचाई, भूमि-विभाजन आदि के विभिन्न कामों के लिए कई कमिटियाँ नियत की जाती थीं, और इनका चुनाव सब ग्रामवासी मिलकर करते थे। पंचायती न्याय बिलकुल पूर्ण होता था। सब एक दूसरे को जानते थे, इसलिए कोई झूठ नहीं बोल सकता था। आजतक भी लोगों को अदालत की अपेक्षा पंचायत पर अधिक विश्वास है। सफाई, शिक्षा और पानी की व्यवस्था आदि भी पंचायत के जिम्मे थीं। खाद का संग्रह भी पंचायतें करती थीं।

कुएँ, तालाब, सड़कों, गलियों, नालियों, धर्मशालायें मंदिरों आदि सार्वजनिक कार्यों का निर्माण भी पंचायत ही करती थीं।

हरेक गाँव में शिक्षा का समुचित प्रबन्ध होता था। यह जानकर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि आजकल की अपेक्षा शिक्षितों का अनुपात कहीं अधिक था। हिन्दू-शास्त्रों के अनुसार प्रत्येक द्विज का पढ़ना जरूरी है। शूद्र भी पढ़ते थे। ब्राह्मण पुरोहित का समाज में एक विशेष स्थान होता था। रेवरेण्ड भी अपनी 'एंशेण्ट इण्डियन एजुकेशन' में लिखते हैं:—

शिक्षा

"ब्रिटिश सरकार के भारत में शिक्षा का संचालन व नियंत्रण अपने हाथ में लेने से पहले इस देश में शिक्षा की एक देशव्यापी लोकप्रिय देशी पद्धति थी, जो सभी प्रान्तों में फैली हुई थी।" बंगाल के एक स्कूल इन्सपैक्टर ने १८६८ में पंजाब के स्कूलों का निरीक्षण करने के बाद लिखा था—"भारत में शिक्षा का आधार शास्त्र है। अनगिनत पाठशालाओं, चटसालों और झोपड़ों में, जो आज भी सारे देश में फैले हुए हैं, व्यापक शिक्षा का परिणाम देखा जासकता है। उपेक्षा, घृणा और पिछले एक हज़ार साल की विपरीत अवस्थाओं के बावजूद भी आज ये संस्थाएं जीवित हैं। इसी से ज्ञात होता है कि इनके मूल में कितनी जबर्दस्त प्रेरणा और शक्ति थी।" स्त्री-शिक्षा की ओर भी ध्यान दिया जाता था। भारतीय शिक्षा पद्धति के सम्बन्ध में हावेल अपनी पुस्तक 'एजुकेशन इन ब्रिटिश इण्डिया' में लिखते हैं कि "हिन्दुओं की यह प्रतिष्ठित और उपयोगी संस्था क्रान्तियों की आँधी और तूफ़ानों में भी नहीं नष्ट हुई। लेखकों और गणितज्ञों की दृष्टि से भारतीयों की प्रतिभा का श्रेय इसी संस्था को है।"

लेकिन शिक्षा की वह लोकप्रिय व्यापक प्रणाली भी नष्ट हो गई। डा० लिटनर,ने इसका कारण बताते हुए लिखा—"बंगाल की भाँति पंजाब के शासकों को भी हिदायत दी गई कि वे सब मुआफ़ी की ज़मीनें—स्कूलों और मस्जिद व मन्दिरों की जायदादें भी अपने हाथ में ले लें। इसके परिणाम-स्वरूप देशी स्कूलों की बहुत-सी जायदादें शनैः-शनैः ख़तम हो गईं। ....पंजाब के शिक्षा-विभाग ने अपनी ओर से स्कूल तो न खोले; लेकिन देशी स्कूलों को बंद करना जारी रक्खा।"

ये पंचायतें गाँवों में बराबर व्यवस्था रखती थीं। देश में चाहे कोई सरकार आवे, चाहे कितने ही क्राँतिकारी परिवर्तन हो जावें, चाहे हिन्दू राजा हो या मुसलमान, मुगल हो या पठान, या और

कोई शासक आजावे, ग्रामों के रहन-सहन, कारोबार और शासन-व्यवस्था में कोई अन्तर न आता था। जब कभी किसी युद्ध या विदेशी हमले से गाँव-के-गाँव खाली हो जाते थे, तब भी शान्ति स्थापित होने पर गाँव के फिर बसते ही वैसी ही पंचायत-व्यवस्था क़ायम हो जाती थी। गाँव के लोगों पर देश की किसी क्रांति का कोई विशेष प्रभाव न पड़ता था। *

: २ :

गांव का साहूकार

आज गाँव के साहूकार की कितनी ही निन्दा क्यों न की जाय, उसे किसानों का रक्त शोषक आदि कितनी ही गालियाँ क्यों न दी जावें, उसका बहुत पुराने ज़माने से ग्राम-जीवन में एक विशेष महत्व रहा है। उसे ग्राम के आर्थिक संगठन की रीढ़ कहा जा सकता है। पहले उसे समाज का खून चूसनेवाला नहीं समझा जाता था।

प्राचीन गांव में साहूकार का स्थान

बहुत पुराने ज़माने से साहूकार किसानों की जरूरतें पूरी करता आया है। ख़ास जरूरत और संकट के समय उससे यह आशा की जाती थी कि वह अनाज या रक़म उधार भी दे देगा, जिसे फ़सल कटने के समय वसूल कर लेगा। कर्ज़ लेने का यह रिवाज भी शायद अनादि काल से सभी देशों में चला आरहा है। जो देश जितना सम्पन्न हो, जिस देश में रुपया अधिक आसानी

---

* इस सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी के लिए सस्ता साहित्य मण्डल द्वारा प्रकाशित "हमारे गांवों की कहानी" देखिए—मूल्य ॥)

से मिल सकता हो, उसमें सूद भी कम लिया जाता है और गरीब देश में सूद ज्यादा। प्राचीनकाल में सूद यद्यपि बहुत कम न था, तथापि वह पूरा का पूरा वसूल नहीं होता था। गाँव के बड़े-बूढ़े बीच में पड़कर फैसला करा देते थे और सूद में भी बहुत-कुछ छूट हो जाती थी। उन दिनों साहूकार वसूली के लिए अदालत में न जाता था। यह गाँव की पंचायत का काम था कि फ़सल कटने पर साहूकार को उसके कर्जदार ईमानदारी से कर्ज चुका देवें। इसके साथ ही वे यह भी देखते थे कि कर्ज चुकाते हुए किसान का भी दिवाला न निकले। किसान की चुकाने की ताक़त और भविष्य का भी वे खयाल करते थे। बहुत दफ़ा कर्ज चुकाते हुए पशुओं के दाम असली दामों से जान-बूझकर ऊँचे मान लिये जाते थे, जिससे कर्जदार को कुछ रियायत मिल जाती थी। यह रिवाज तो आज तक भी गाँवोंमें पाया जाता है। कर्ज या सूद पर नियंत्रण के लिए कोई सरकारी क़ानून न होते हुए भी गाँव के पंच नियंत्रण करते थे। गाँव का महाजन भी कभी पंचों का निरादर न करता था।

लेन-देन का हिसाब बाक़ायदा तमस्सुक आदि द्वारा होता था। कर्ज़दार अपने वायदे का पाबन्द था और महाजन भी उसे लूटने के लिए जाल या धोखेबाज़ी न करता था। महाजन की बही में लिखी रक़म पर सब विश्वास करते थे। अपना कर्ज न चुकाने का खयाल भी खुशहाली के उन दिनों में कभी नहीं सुना गया। "देशी राज्य में कभी लेनदार को अपने रुपये की वसूली के लिए सरकार की सहायता लेने की जरूरत नहीं पड़ती थी। उसके लिए कोई अदालत नहीं खुली थी, वह जैसे-तैसे स्वयं अपनी लेनदारी वसूल करता था। वह क्या करता है, सरकार को इसकी फ़िक्र न थी; लेकिन इसका परिणाम वैसा ख़राब नहीं होता था, जैसाकि हम खयाल करते हैं। यह हिन्दुस्तान के चरित्र की खास खूबी है कि पहले वायदों और

लेन-देन में ईमानदारी

समझौतों से बहुत कम इन्कार होता था। कमिश्नर देखते थे कि ऐसे मामलों में लेनदार ईमानदारी की नीति को और साहूकार सावधानताकी नीति को सबसे अच्छा समझते थे।" (१७ जुलाई १८९७ की गवर्नर जनरल की कौंसिल की कार्यवाही का उद्धरण) हरेक शख्स कर्ज चुकाना अपना धर्म समझता था। लोगों का यह विश्वास था कि यदि इस जन्म में कर्ज न चुकाया जायगा, तो अगले जन्म में चुकाना पड़ेगा। इसलिए हरेक कर्जदार ईमानदारी से चुकाने की कोशिश करता था। यदि कोई फिर भी न चुकाना चाहता, तो उसे यह अधिकार था कि वह साहूकार की वही में अपने हाथ से उस रक़म पर लकीर फेर सकता था और उसके बाद साहूकार उससे फिर माँग नहीं सकता था; लेकिन यह काम समाज में बहुत निन्दनीय और अपमानजनक समझा जाता था। इसलिए ऐसा करने की नौबत ही न आती थी। आज भी देहातों में अपने बाप-दादा का कर्ज चुकाना अपना कर्तव्य समझा जाता है।

साहूकार की गाँव इज्जत करता था, लेकिन उसे समाज में सबसे ऊँचा स्थान न दिया जाता था। वह पंचायत के संरक्षण में रहता था। उसका कोई बाल बाँका भी न करे, यह देखना पंचों का काम था। इसी तरह अकाल के समय उसके अनाज के कोठे किसानों के लिए खुल जाते थे। वह समझता था कि गाँव की खुशहाली में उसकी खुशहाली है। किसान और साहूकार का आपस से पूरा सहयोग था। साहूकार किसानों की आवश्यकता पूरी करता था, न कि खुद मालामाल होने के लिए किसानों को सताता था; क्योंकि उन दिनों धन या सम्पत्ति से ही किसी को बड़प्पन न मिलता था।

: ३ :

परिवर्तन और उसका परिणाम

हिन्दू-काल में भारतीय गाँवों की समृद्धि और आत्म-निर्भरता की जो हालत थी, गाँवों की वही खुशहाली मुस्लिम-काल में भी क़ायम रही। मुसलमान बादशाहों को तो टैक्स की वसूली से मतलब था, गाँव के अन्दरूनी इन्तज़ाम में वे दख़ल न देते थे। इसलिए गाँवों का आन्तरिक प्रबन्ध और संगठन पहले जैसा ही रहा। कुछ विदेशी आक्रमणकारियों ने देश को लूटा, यह सच है; लेकिन यह तो एक क़िस्म का भयंकर डाका था; पर जब उन्होंने अपना राज्य एक बार क़ायम कर लिया, वे भी देश की जनता में मिल गये तथा उन्होंने देश की भाषा और देश के रिवाजों को बहुत कुछ अपना लिया। वे देश की जनता के सुख-दुःख में शरीक होते थे। सिर्फ धर्म को छोड़कर वे देश निवासियों का एक अभिन्न भाग हो गए थे। इनमें से कुछ राजाओं ने धर्मोन्माद के कारण हिन्दू जनता पर भीषण अत्याचार भी किये, यह मानते हुए भी हम बिना किसी झिझक के कह सकते हैं कि मुस्लिम काल में शासकों ने भारत का आर्थिक शोषण नहीं किया। उनके समय उनके संरक्षण में देश के कला-कौशल और व्यापार-व्यवसाय ने काफ़ी तरक्की की। लेकिन यहाँ हम मुस्लिम शासन के गुणों की चर्चा नहीं करना चाहते और न हम उसकी वर्तमान सरकार से तुलना ही करना चाहते हैं। हमारा उद्देश्य तो सिर्फ़ उन्हीं घटनाओं की ओर ध्यान खींचना है, जिनसे भारत के आर्थिक पतन के कारणों पर ठीक तौर से विचार किया जासके।

मुस्लिम-काल में खुशहाली

अंग्रेज़ भारत में व्यापारी के तौर पर आये। उनका मुख्य

उद्देश्य व्यापार के द्वारा रुपया कमाना था। सिर्फ रुपये के लोभ से उन्होंने भारत के समुद्र-तट पर पैर रक्खा था। उन्हें इस विशाल देश के आदमियों से न कोई सरोकार था, न कोई रिश्ता। वे तो सिर्फ व्यापारी थे। उन दिनों मुस्लिम शासन कमज़ोर और छिन्न-भिन्न हो रहा था। दिल्ली की केन्द्रीय मुस्लिम सरकार आखीरी साँस ले रही थी। उसे तो जैसा हम पहले लिख चुके हैं, गाँवों से टैक्स वसूली के सिवा और कोई वास्ता न था। इसलिए उन्हें इसमें भी क्या ऐतराज़ हो सकता था कि गाँववाले खुद अपना टैक्स दे दें या किसी और एजेन्सी की मार्फत दें। उनके लिए दोनों बातें बराबर थीं। उन्होंने यह अधिकार अंग्रेज़ व्यापारियों को दे दिया। इस कारण कुछ इलाकों में दो-अमली शासन चलने लगा। इन विदेशियों का तो एकमात्र लक्ष्य था गाँववालों से ज्यादा-से-ज्यादा वसूल करना। इन्हें इस बात की रत्ती-भर भी फिक्र न थी कि उनकी इस नीति का गाँववालों पर कितना बुरा असर पड़ता है। उन्होंने अपने स्वार्थ की खातिर गाँव के सब प्रकार के संगठनों का विरोध किया; क्योंकि यदि ग्राम पंचायतें पहले की भाँति काम करती रहतीं, तो विदेशी लोग गाँव पर अपने व्यापार के लिए पूरा नियंत्रण नहीं कर सकते थे।

अंग्रेज़ों का प्रवेश और पंचायतों का ह्रास

"दी विलेज गवर्नमेण्ट इन ब्रिटिश इण्डिया" के लेखक अपनी पुस्तक के १६७ पृष्ठ पर लिखते हैं कि—"यह स्पष्ट है कि शुरू से ही ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अफ़सरों में पंचायत के संगठन के बरखिलाफ़ जबर्दस्त ख़याल था।" यह विरोध स्वाभाविक था। इसका उद्देश्य अपनी जाति के हितों की रक्षा था। शनैः-शनैः कम्पनी के अफ़सर ताक़त पकड़ते गये और व्यापार के साथ शासन भी करने लगे; लेकिन दरअसल तबीयत से वे व्यापारी थे। इसलिए उनके हरेक काम की तह में रुपया कमाने का

भाव रहता था। उन्होंने लड़ाइयाँ लड़ीं, जायदादें हासिल कीं और देश के कुछ भागों पर हुकूमत भी शुरू की; लेकिन इन सबका एक उद्देश्य—महज़ एक ही उद्देश्य था और वह था धन कमाना। हिन्दी में एक कहावत है:—

"बनिया हाकिम ग़ज़ब खुदा"

अर्थात् एक व्यापारी का हाकिम हो जाना लोगों पर आपत्ति का पहाड़ टूटना है। हाकिम और व्यापारी के हित बिलकुल जुदा-जुदा होते हैं। व्यापारी जनता को चूसने की फ़िकर करता है तो हाकिम का फ़र्ज उसकी रक्षा करना है। आर्थिक शोषण और रक्षण दोनों कभी साथ-साथ नहीं चल सकते; लेकिन जब शोषक ही खुद शासक हो जावे, तब परमात्मा ही जनता का रक्षक है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन में भारत के साथ भी यही किस्सा हुआ।

अंग्रेज़ों ने जान-बूझकर या बेजाने अपने क़ानूनों को प्रचलित करने के जोश में यहाँ की पंचायतों की जगह अदालतों को चला दिया। आज पंचायतों के फ़ैसलों की कोई क़ानूनी क़ीमत नहीं है। दीवानी मामलों तक में वे अदालत की सहायता के बिना कोई फ़ैसला नहीं दे सकतीं।

पंचायतें ख़तम

यदि आज वे कोई फ़ैसला दे भी दें, तो उसकी कोई क़दर नहीं करता। यदि वे आज किसी को जात बिरादरी से अलग करती हैं, तो वह आदमी अदालत में पंचों पर मुक़दमा चला सकता है। फ़ौजदारी मामलों में पंचायत यदि फ़ैसला करे, तो पंचायत पर ही मुक़दमा चल सकता है। ऐसी स्थिति में—सब अधिकार छिन जाने की स्थिति में पंचायतों का रहना न रहना बराबर था। वे शनैः-शनैः ख़तम होती गईं।

वर्तमान सरकार ने भी गाँव में मुखिया, चौकीदार और पटवारी रखने की उपयोगिता को स्वीकार किया। लेकिन

गांवों के नये अफ़सर

उपयोगिता को स्वीकार करते हुए भी सरकार ने उस ऊँचे उद्देश्य को नष्ट कर दिया, जो उनके ग्राम पंचायत द्वारा चुने जाने से पूरा होता था। आज मुखिया जनता का सेवक नहीं है, न उसे जनता चुनती ही है। उसे पुलिस के परामर्श से ऊपर के अधिकारी नियुक्त करते हैं। इस पद के लिए अक्सर ऐसे ही लोग चुने जाते हैं, जो पुलिस के खुशामदी हों, शरारती हों और पुलिस की सहायता से अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हों। भले ईमानदार आदमी इस पद की इच्छा भी नहीं करते। आज हालत यह है कि मुखिया का काम लोगों का भला देखना या झगड़ों का संतोपजनक रीति से सुलझाना नहीं है। उसका पहला और सबसे बड़ा फ़र्ज यह है कि यदि गाँव में कोई खास घटना हो जाय, तो वह पुलिस को इत्तिला दे दे। "विलेज गवर्नमेण्ट इन ब्रिटिश इण्डिया" के लेखक ठीक ही लिखते हैं कि—"यह याद रखना चाहिए कि मुखिया जनता का आदमी होने की अपेक्षा ज्यादा-से-ज्यादा सरकार का प्रतिनिधि होता जा रहा है।" (पृ० १७४) इस तरह ग्राम के अपने प्रतिनिधियों द्वारा आत्मशासन या प्रजातंत्र की पद्धति नष्ट हो गई।

चौकीदार भी अब जनता द्वारा नहीं चुना जाता। वह सरकार का एक नौकर है, जिसका वेतन सिर्फ १॥।=) मासिक है। न उसे कोई जमीन मुफ़्त मिली हुई है और न उसे पहले की भांति फ़सल पर कुछ हिस्सा मिलता है। इसके साथ ही उसपर चोरी की क्षतिपूर्ति की जिम्मेदारी भी नहीं रही। फलतः चोरियाँ ज्यादा होने लगी हैं। आजकल चौकीदार पुलिस व ग्रामवासियों के बीच की एक कड़ी है। उसकी स्थिति कितनी ही महत्वपूर्ण क्यों न मानी जाती हो, अब जनता का वह कोई काम नहीं करता। क़ानूनी भाषा में वह जनता का नौकर है; लेकिन दरअसल वह पुलिस के छोटे अधिकारियों के एक औजार से अधिक कुछ नहीं है।

पटवारी आज भी हिसाब के कागज़ रखता है। यह भी सच है कि उसके रजिस्टर अब ज्यादा क़ायदगी के साथ भरे जाते हैं; लेकिन वह भी अब ग्रामवासियों का नौकर नहीं रहा। आज तो आमतौर पर पटवारी ग़रीब देहातियों को चूसनेवाले के रूप में ज्यादा नज़र आता है। गाँववाले उसे वेतन नहीं देते और इस-लिए वह भी उनके प्रति ज़िम्मेदार नहीं रहा। माल-अदालत में उसकी खूब चलती है। किसान बेचारा यह भी नहीं जान पाता कि उसके नाम का खाता ठीक भरा भी गया है या नहीं? उसे ऐसी भी ज़मीनों का लगान देना पड़ जाता है, जो उसने कभी जोती भी न हों। पीढ़ियों से एक ज़मीन को जोता-बोता आया हो, फिर भी उसे मौरूसी हक़ नहीं मिलते।

इस तरह तमाम ग्राम संगठन छिन्न-भिन्न हो गया और सारे काम जनता के प्रतिनिधियों की बजाय सरकारी नौकरों के हाथ में चले गये। सारी शक्ति सरकार में जाकर केन्द्रित हो गई। गाँव के बड़े-बूढ़ों की इज्ज़त और उनका प्रभाव भी खतम हो गये।

१८८० के दुर्भिक्ष कमीशन के, जो यहाँ किसानों की दुर्दशा का कारण जाँचने आया था, एक सदस्य मि० जेम्स केयर्ड ने

किसानों की तबाही

अपनी यह दृढ़ सम्मति प्रकट की थी—"किसानों की आपत्ति का एक प्रधान कारण ग्राम-संस्थाओं का विनाश है।" आज किसानों को अपनी तकलीफ रफ़ा करने के लिए क़ानूनों व अदालतों की शरण लेनी पड़ती है। कानून अँग्रेजी में छपे होते हैं, जिन्हें वह पढ़ नहीं सकता। अदालतें तो स्टाम्प फ़ीस, वकील, रिश्वत आदि की वजहसे इतनी ज्यादा ख़र्चीली होती है कि वहाँ जाकर लड़ना उसके बूते के बाहर की बात है। एक अदालत में वह जीत भी जाय, तो ऊंची अदालतों में जाना तो उसके लिये बिलकुल असम्भव है। वह यह जान गया है कि "अन्त में लम्बी थैली ही जीतती है" शाही खेती कमीशन ने

भी १६१२ के दुर्भिक्ष कमीशन की रिपोर्ट के निम्न उद्धरण को उद्धृत करते हुए यह स्वीकार किया है कि हिन्दुस्तानी अदालतों की सचाई पर लोगों को यकीन नहीं रहा। "अदालत की लड़ाई बेईमानी की लड़ाई है, जिसमें वही जीतता है, जो ज्यादा झूठी हलफें खा सकता हो, जो ज्यादा गवाह पेश कर सकता हो...... ईमानदार साहूकार और ईमानदार किसान दोनों मारे जाते हैं; क्योंकि अदालत उन्हें भी बेईमान समझती है।"

सरकारी नौकरों की बड़ी-बड़ी तनखाहें या अदालतों की भारी फीसों के द्वारा ही आज देश गरीब नहीं हो रहा; लेकिन सरकारी मालगुजारी भी पहले से ज्यादा बढ़ गई है। हर तीसवें साल मालगुजारी की दर बढ़ जाती है। कहा जाता है कि मुस्लिम-काल में मालगुजारी ज्यादा थी। संभव है, आंकड़ों से यह बात पुष्ट की जा सके; लेकिन ऐसा कहनेवाले भूल जाते हैं कि मुस्लिम शासन में दुःखी व्यक्ति बिना एक पाई खर्च किये इन्साफ पाजाता था और उसे आज की भांति जुदा-जुदा नामों से बहुत-से टैक्स भी न देने पड़ते थे। बड़ी-बड़ी जमीनें चरागाह आदि के लिए मुफ्त छुटी रहती थीं; लेकिन आज उसे चारे के लिए ही काफ़ी खर्च करना पड़ता है। फिर सरकार भी पैदावार के अनुपात से अनाज के रूप में टैक्स लेती थी, नकि आजकल नकद बँधी हुई रक़म, पर इस चर्चा का स्थान यहाँ नहीं है।

पुराने जमाने में ज़मीन सारे गाँव की मानी जाती थी। व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार न था। मुस्लिम शासन में महज़ टैक्स इकट्ठा करने के एजेन्ट आज जमींदार या ज़मीनों के मालिक बन बैठे हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि किसान खूब चूसा जाने लगा है। जमींदार तो किसान से वह आखरी पाई भी छीनना चाहता है, जो उससे मिल सकती है। पिछले कुछ सालों को छोड़कर वह एक किसान की जगह दूसरा

जमीन के मालिक

इस तरह हम देखते हैं कि ग्राम के संगठन और सामाजिक रीति-रिवाजों में जो परिवर्तन हुए हैं, उन्होंने ग़रीब किसान पर सामाजिक और आर्थिक दोनों दृष्टियों से बुरा असर डाला है। ग्रामों में सफ़ाई तक की कोई ज़िम्मेदारी नहीं लेता। शिक्षा की पुरानी पद्धति भी इसके साथ ही ख़तम हो चुकी है। गाँव के बच्चों को पढ़ाने में गर्व अनुभव करने वाले ब्राह्मण भी आजकल नहीं हैं और यदि कहीं किस्मत से दो-चार हैं भी, तो उनकी हालत ख़राब है। ज़िला बोर्ड उन्हें बहुत कम सहायता देता है और यह सहायता भी बन्द की जासकती है, यदि सरकार की टैक्स्ट बुक कमेटी के कोर्स से रत्ती-भर भी फ़र्क़ हुआ। सरकार पुरानी पद्धति की जगह कोई नई ऐसी शिक्षा पद्धति चलाने में बिलकुल असफल हुई है, जिससे देश में साक्षरता का प्रचार हो सके।

परिणाम

: ४ :

क्या भारत कृषिप्रधान देश है ?

न जाने कितनी बार यह कहा गया है कि भारत कृषि-प्रधान देश है। हमें यह विश्वास कराने का प्रयत्न किया जाता है कि प्रकृति ने ही ऐसी व्यवस्था की है कि भारत कच्चा माल पैदा करके विदेशों में भेजे तथा उसके बदले में विदेशों से तैयार माल मँगावे। इस विचार को इतने ज़ोरों के साथ और इतनी ज्यादा बार दोहराया गया है कि अधिकांश शिक्षित भारतीय भी इसे स्वयंसिद्ध सत्य मानने लगे हैं। इस झूठे विश्वास के कारण किसान की ग़रीबी के संबंध में और

कृषि-प्रधान कैसे बना ?

भी बहुत सी ग़लतफ़हमियाँ पैदा हो गई हैं ; लेकिन दूसरे अनेक मिथ्या विश्वासों की तरह यह भी एक भ्रांत धारणा है। वस्तुतः भारत की यह स्थिति विदेशी सरकार की कृपा का परिणाम है। ब्रिटेनको अपने देश का व्यापार समृद्ध करने के लिए जहाँ सस्ता कच्चा माल चाहिए था, वहां अपना माल खपाने के लिए भी ऐसा बाज़ार चाहिये था, जहाँ स्वयं माल तैयार न होता हो। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारत को ज़बर्दस्ती कृत्रिम तरीक़ों से कृषिप्रधान बनाया गया। "गवर्नमेण्ट एण्ड इण्डस्ट्रीज़" के लेखक ने इंग्लैण्ड के तरीक़ों का ज़िक्र करते हुए पार्लमेंट के एक सदस्य का निम्न उद्धरण दिया है "देशी आदमी के दिमाग़ में यह बात बिठा देनी चाहिए कि उसकी अपनी उन्नति के लिए मज़दूरी बहुत ज़रूरी है। उसे मज़दूरी की आवश्यकता समझाने का तरीक़ा यह है कि पहले उससे वह ज़मीन छीन ली जाय, जिस पर वह गुज़ारा करता है। दूसरे उसकी खेती की भी ज़मीन को इस हद तक महदूद कर दिया जाय, जिससे वह अपना पेट भी बहुत मुश्किल से भर सके। और तीसरे उस पर इतना कर लगा दिया जाय कि वह बिना मज़दूरी किये उसे चुका ही न सके।" इस उद्धरण पर किसी टीका-टिप्पणी की ज़रूरत नहीं। उक्त पुस्तक का लेखक कहता है कि "देशी आदमी का भला इसी में है, यह दलील नई नहीं है, सभी पराधीन जातियों पर यह लागू होती है।"

यह सच है कि भारत का अधिकांश निर्यात व्यापार कच्चे माल का और आयात व्यापार तैयार माल का होता है। हमारी

अब भी बदल सकता है

बदक़िस्मती से यह भी सच है कि हिन्दुस्तान की तीन-चौथाई आबादी खेती पर गुज़ारा करती है ; लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि हिन्दुस्तान इस हालत को बदलने में असमर्थ है। यदि ५० सालों में दूसरे

पिछड़े हुए देश तरक्की कर सकते हैं, यदि जापान ५० सालों में तरक्की करके इंग्लैण्ड-जैसे व्यवसायी देश को कपड़े के धन्धे में बीसियों किस्म की पाबन्दियाँ लगाने पर भी पछाड़ सकता है, तो भारत उन्नति क्यों नहीं कर सकता ? पिछले यूरोपियन युद्ध के दिनों में सरकार ने अनेक वस्तुयें फ़ौजों के लिए बनाने की कोशिश की, तो उसे भारी सफलता मिली ; परन्तु युद्ध बन्द होने पर यह कार्य भी बन्द कर दिया गया। यदि युद्ध कुछ और साल तक चलता रहता, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दुस्तान अपनी सब ज़रूरतें बड़ी कामयाबी के साथ यहीं पूरी करने लगता। केवल यही नहीं, यह भी बहुत सम्भव था कि इंग्लैण्ड को बहुत-सा तैयार माल भेज सकता। आज सभी देश अपने-अपने को सब दृष्टियों से आत्मनिर्भर बनाने में लगे हैं। आज 'मुक्त-द्वार' नीति का कोई नाम भी नहीं लेता। मुक्त-द्वार नीति का सबसे बड़ा समर्थक इंग्लैण्ड भी आज तट-करों की दीवारें खड़ी कर रहा है। गाहक के हित के नाम पर भारत में सब देशों का माल आकर बिकता है। यह आवाज़ आज भारत के सिवा कहीं नहीं सुनाई देती। भारत में सरकार बाहर के माल पर चुंगी लगाने की बात को कदापि हमदर्दी के साथ नहीं सुनती।

भारत की कृषिप्रधानता या उद्योग-धन्धों में फिसड्डीपन के लिए प्रकृति को दोष देने से कोई फ़ायदा नहीं है। इसमें कोई शक नहीं कि दो सदी पहले हिन्दुस्तान उद्योग-धन्धों की दृष्टि से बढ़ा-चढ़ा था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना ही क्या इसी लिए नहीं हुई थी कि वह भारत के बढ़िया कपड़े आदि इंग्लैण्ड में बेच कर खूब नफ़ा कमावे ? ईस्ट इण्डिया कम्पनी के दिनों की वह करुण कहानी—कितनी भीषणता और निर्दयता से हिन्दुस्तान के धन्धों को ख़तम किया गया, उसकी रोमांचकारी कहानी देने

भारत की व्यावसायिक उन्नति

की यहाँ जरूरत नहीं है और न यहाँ हिन्दुस्तान की समृद्धि और उद्योग-धन्धों की तरक्की के बारे में विदेशी लेखकों के सैकड़ों उद्धरण देने की हमारी इच्छा ही है। सिर्फ़ नमूने के तौर पर दो-तीन उद्धरण दे देने काफ़ी होंगे। इनसे यह स्पष्ट हो जायगा कि भारत के उद्योग-धन्धों की हालत क्या थी? ढाका की मलमल के बारे में तो विदेशी लेखकों ने तारीफ़ करने में गजब कर दिया है। सर जार्ज वर्डवुड ने आवेरवाँ (दौड़ता हुआ पानी) वत्फ़ हवा (बुनी हुई हवा) शबनम (ओस) आदि कपड़ों के कवित्वपूर्ण नामों के अनुरूप ही उन कपड़ों को सुन्दर, बारीक और बढ़िया बताया है। फ्राँसीसी यात्री ट्रैवर्नियर ने १७ वीं सदी में भारत की यात्रा की थी। उसने लिखा है कि—"भारत से वापिस आकर मुहम्मद बेग ने चासेफ़ (दूसरे) को नारियल भेंट किया। यह नारियल शुतुरमुर्ग के अण्डे के बराबर था और उस पर मोती जड़े हुए थे। खोलने से उसमें एक ६० हाथ लम्बा साफ़ा मिला। यह इतना नफ़ीस था कि हाथों में महसूस भी न होता था, क्योंकि लोग इतना बारीक सूत कातते थे कि मुश्किल से नजर आता था, यानी बिलकुल मकड़ी का जाला मालूम होता था।" जेम्स टेलर ने जहाँगीर के जमाने के एक १५ गज लम्बे थान का जिक्र किया है, जिसका तोल सिर्फ़ ६०० ग्रेन (एक छटांक से कुछ कम) और कीमत ४० पौण्ड थी। इसके बाद वह लिखता है कि आजकल सबसे नफ़ीस कपड़े का वजन कम-से-कम १६०० ग्रेन है, जबकि उसकी कीमत १० पौण्ड है।

हालत बदली

लेकिन हालत बदली। यूरोप, अमेरिका और बंगाल के निजी व्यापार की सातवीं रिपोर्ट में लिखा है कि कलकत्ते के व्यापारी सन् १८०० से पहले ४० लाख रुपये से अधिक का कपड़ा या कच्चा रेशम नहीं मंगाते थे; लेकिन १८०१-२ में भारत में १ करोड़ २० लाख रुपये का

कपड़ा व कच्चा रेशम पहुँचने लगा। पहले इंग्लैंड के निवासी हिन्दुस्तानी कपड़े पर मरते थे, अब हिन्दुस्तान इंग्लैंड से कपड़े मंगाने लगा। हिन्दुस्तान का व्यापार मशीनों के मुक़ाबले में आकर नष्ट नहीं हुआ। इसकी तो एक बड़ी दर्दनाक कहानी है। हिन्दुस्तान के कपड़े पर भारी-भारी कर लगाये गये और जब उससे भी हिन्दुस्तानी कपड़े की माँग कम न हुई, तो इंगलिस्तान में हिन्दुस्तानी कपड़ा पहनना और बेचना जुर्म करार दिया गया। केवल सूती कपड़े के साथ ही नहीं, रेशम, जूट और अन्य वस्तुओं पर भी अनुचित पाबन्दी लगाई गई। १७०० ई० में भारतीय रेशम मंगाना ग़ैरक़ानूनी करार दिया गया।

यह वह समय था, जब इंग्लैंड के लोगों ने रुई का नाम तक न सुना था। वे सिर्फ ऊन को जानते थे। जब उन्होंने रुई देखी, उसे वे सूती ऊन (Cotton wool) कहने लगे। इसी तरह गन्ना भी उनके लिए नई वस्तु थी। विदेशियों ने गन्ने को 'शहद पैदा करने वाला पौदा' कहा है; लेकिन हिन्दुस्तान की हकूमत के बदलते ही सब कुछ बदल गया। भारत में भारतीय सरकार न रही, जो यहाँ के हितों और धन्धों की चिन्ता करती। एक-एक करके यहाँ सब धन्धे ख़तम हो गये और सारी आबादी को खेती पर ही गुजारा करने के लिए विवश कर दिया गया। हिन्दुस्तानी मल्लाह, जो यहाँ से इङ्गलैंड माल ले जाते थे, क़ानून द्वारा इङ्गलैंड के तटों पर उतरने से रोक दिये गये। यहाँ के भारी जहाज़ी व्यवसाय की एक कहानी मात्र रह गई। हिन्दुस्तान कृषिप्रधान देश है, व्यवसाय के लायक़ नहीं है, इसके पक्ष में नई-नई दलीलें दी जाने लगीं। हमें यह भी कहा गया कि भारत का गरम जलवायु कपड़ों के व्यवसाय में बाधक है और हैरानी यह है कि बहुत से शिक्षित भारतीय इसपर विश्वास भी करने लग गये; लेकिन बम्बई, अहमदाबाद और दिल्ली आदि के, जहाँ तापक्रम ११७ तक

पहुँचता है, कारखानों की सफलता ने इस दलील की पोल सबके सामने खोल दी। अभी बहुत साल नहीं हुए, जबतक हिन्दुस्तानी कपड़े की सहायता देने के स्थान में हिन्दुस्तानी कपड़े पर ३॥ फ़ीसदी टैक्स हिन्दुस्तान में लगाया जाता था।

प्राकृतिक सम्पन्नता

भारत खानों की दृष्टि से बहुत समृद्ध व सम्पन्न देश है। प्रकृति की इसपर बहुत अधिक कृपा है। विविध जलवायु और ऋतुओं के कारण सभी प्रकार के पौदे यहाँ होते हैं। बुद्धि और प्रतिभा की भी हिन्दुस्तान में कमी नहीं है। आज के गिरे हुए ज़माने में भी भारत सर जगदीश-चन्द्र बोस, सर रमण और सर प्रफुल्लचन्द्र राय को पैदा कर सकता है। जिस देश में कच्चा माल सब क़िस्म का पैदा होता हो, लोहा, कोयला आदि सब प्रकार की धातुएं काफ़ी परिमाण में मिलती हों और जहाँ प्रतिभाशाली वैज्ञानिकों और आविष्कारकों की कमी न हो, वहाँ व्यवसाय क्यों नहीं पनप सकता ? आज सरकार कहती है कि सरकार के लिए व्यवसाय का नियंत्रण करना हानिकारक है, उसे सहायता देना व्यर्थ है और इसमें भाग लेना सार्वजनिक धन का दुरुपयोग है (स्टेट एण्ड इण्डस्ट्री—सरकारी प्रकाशन) लेकिन क्या इङ्गलैंड की सरकार के लिए भी अपने देश में व्यवसाय का नियंत्रण और सहयोग घातक और व्यर्थ था ? क्या इंग्लैंड की सरकार ने भी इसे सार्वजनिक धन का दुरुपयोग समझा था ? यदि नहीं तो क्यों ? हिन्दुस्तान गुलाम है, उसके लिए जो चाहो कह दो, कोई पूछने वाला नहीं। दिक़्क़त तो यही है कि हिन्दुस्तानी भी इस समस्या को नहीं समझते और धड़ाधड़ खेतीको एकमात्र पेशा मानकर पहले से ही आधे-पेट रहने वाले लोगों के भोजन को बाँटने में लगे हुए हैं।

१८८१ ई० में खेती पर ५८ फ़ीसदी आबादी गुज़ारा करती थी। इसके बाद से यह अनुपात लगातार बढ़ता

गया। १८६१ में ६१.०६ फ़ीसदी, १६०१ में ६६.५ फ़ीसदी और १६२१ में ७१.६ फ़ीसदी लोग इस पर गुज़ारा करने लगे। १६३१ में यह संख्या ७२.८३ फ़ीसदी तक पहुँच गई; (लेकिन शाही-खेती-कमीशन ने खेती पर गुज़ारा करने वालों की संख्या ७३.६ फ़ीसदी बताई है) इसका अर्थ यह हुआ कि ३० सालों में खेती पर गुज़ारा करने वालों में २१ फ़ीसदी की वृद्धि हुई; लेकिन दूसरी ओर विदेशों में खेती करने वालों की औसत संख्या लगातार घटती गई। डेनमार्क में १८८० से १६२१ में यह संख्या ७१ से ५७ फ़ीसदी हो गई। फ्राँस में १८७६ से १६२१ में औसत कृषिजीवियों की संख्या ६७.६ से ५३.६ तक और जर्मनी में १८७५ से १६१६ तक ६१ से ३७.८ फ़ीसदी तक घट गई। इंग्लैण्ड में १८७१ में ३८.२ फ़ीसदी लोग खेती पर गुज़ारा करते थे, लेकिन १६२१ में सिर्फ़ २०.७ फ़ीसदी रह गये। इन आँकड़ों से स्पष्ट है कि जब भारत में ज़मीन पर गुज़ारा करने वाले लगातार बढ़ते गये, विदेशों में यह संख्या लगातार घटती गई। आखिर इसकी वजह? भारत-जैसा व्यवसायी देश क्यों खेती-प्रधान हो गया और डेनमार्क, फ्राँस-जैसे देश उसी समय में क्यों व्यवसाय-प्रधान हो गये? इस सवाल की गम्भीरता तब और भी बढ़ जाती है, जब हम देखते हैं कि हिन्दुस्तान में सब प्रकार का कच्चा माल पैदा होता है, सब प्रकार की धातुएं मिलती हैं, मज़दूरी बहुत तादाद में और बहुत सस्ती मिलती है। बुद्धि और प्रतिभा की भी कोई कमी नहीं। विदेशों की यूनि-वर्सिटियों में भारतीय न केवल साहित्यिक विषयों में, बल्कि वैज्ञा-निक विषयों में भी प्रसिद्धि प्राप्त करते हैं।

ज़मीन पर भार

भारत में ज़मीन पर इतना अधिक बोझ लद गया है कि प्रति व्यक्ति ज़मीन का हिस्सा दो एकड़ भी नहीं मिल सकता। जो लोग भारत में वैज्ञानिक खेती के द्वारा समृद्धि

की सलाह देते हैं, उन्हें नीचे लिखी तालिका से मालूम हो जायगा कि भारतीय किसानों के पास कितनी थोड़ी ज़मीन है। एग्रिकलचर जरनल आफ़ इण्डिया (१९२६) के अनुसार २३ फ़ीसदी के पास एक एकड़ या उससे भी कम ज़मीन थी, ३३ फ़ीसदी के पास १ से ५ एकड़ तक, २० फ़ीसदी के पास ५ से १० एकड़ तक और सिर्फ़ २४ फ़ीसदी के पास १० एकड़ से ज़्यादा ज़मीन थी।

प्रति-किसान कृषि क्षेत्र

शाही-खेती-कमीशन की रिपोर्ट के अनुसार २२.५ फ़ीसदी किसानों के पास १ एकड़ या उससे भी कम ज़मीन है, १५ फ़ीसदी के पास एक से २॥ एकड़ तक; १७.९ फ़ीसदी के पास २॥ से ५ एकड़ तक और २०.५ फ़ीसदी किसानों के पास ५ से १० एकड़ तक ज़मीन है। बम्बई और बरमा को छोड़कर बाक़ी प्रान्तों में तो किसानों के पास इससे भी कम ज़मीन है। इन अंकों की इंग्लैंड के किसानों से तुलना करिये। इंगलिस्तान में १.१ फ़ीसदी किसानों के पास १ से ५ एकड़ तक, ५ फ़ीसदी के पास ५ से २० एकड़ तक, ९.७ फ़ीसदी के पास २० से २५ एकड़ तक, १६ फ़ीसदी के पास ५० से १०० एकड़ तक, १४.५ फ़ीसदी के पास १०० से १५० एकड़ तक, २९ फ़ीसदी के १५० से ३०० एकड़ तक और २४.७ फ़ीसदी के पास ३०० एकड़ से ज़्यादा ज़मीन है। इंग्लैंड में ५० फ़ीसदी किसानों के पास ५० एकड़ से ज़्यादा ज़मीन है, जब कि भारतमें ७६ फ़ीसदी किसानों के पास १० एकड़ से कम है और इनमें से भी १५.४ फ़ीसदी के पास १ एकड़ से भी कम ज़मीन है। ५० एकड़ तो एक फ़ीसदी किसानों के पास भी न होगी।

पहले इतनी बुरी हालत न थी। डाक्टर मैन (Mann) खेती के डायरेक्टर ने पूना ज़िले का जो हाल लिखा है, उससे मालूम होता है कि १७७१ ई० में किसान के पास औसत ज़मीन ४० एकड़ होती थी, १८८१ में १७॥ एकड़ रह गई और १९१५ में घटकर

सिर्फ़ ७ एकड़ औसत ज़मीन रह गई। कई ज़िलों में २५-३० फ़ीट के टुकड़े हैं। ज़िला बस्ती में खेतों की संख्या ८०००० (१८८६ ई० से) १२,५०,००० हो गई है।

इतनी छोटी-छोटी जोतों में क्या तो वैज्ञानिक खेती होगी और क्या आमदनी होगी? असल में ज़रूरत यह है कि लोग ज़मीन को छोड़कर उद्योग-धन्धों व दस्तकारियों की ओर झुकें। इससे जहाँ कृषिजीवियों की संख्या कम होने से हर एक के पास ज़्यादा ज़मीन आवेगी, वहाँ देश का कलाकौशल और व्यवसाय भी चमकेगा। भारत के उद्योग-धन्धे चमक सकते हैं। सिर्फ़ लोगों की इस ओर रुचि और सरकार के पूर्ण हार्दिक सहयोग की ज़रूरत है।

: ५ :

जीवन-क्रम या पेशा

पिछले अध्यायों को पढ़ने से पाठकों को यह मालूम हो गया होगा कि पुराने ज़माने में खेती पेशा न होकर जीवन का एक क्रम या प्रकार था। प्राचीन भारत के किसान को आजकल के शब्दों में न हम पूंजीपति कह सकते हैं, न मज़दूर। वह फ़सल के कुछ दिनों के सिवा कभी मजदूर न रखता था और न मज़दूरी से ही पेट पालता था। वह तो अपने खेतों की पैदावार पर गुज़ारा करता था। न वह आजकल का हिसाब-किताब जानता था, न ज़मीन की पैदावार में अपनी मेहनत का हिसाब लगाता था। अपनी मेहनत और नफ़े की चिन्ता किसी व्यापार या पेशे में होती है;

लेकिन उन दिनों खेती पेशा ही न माना जाता था। किसान खेत बोते हुए यह हिसाब नहीं लगाता था कि किस चीज़ की खेती से उसे ज्यादा नफ़ा मिलेगा। वह तो अपनी ज़रूरत की हर एक चीज थोड़ी-थोड़ी बोता था। गेहूँ, चावल, दाल, कपास, गन्ना, तेल के बीज, सभी कुछ अपनी ज़रूरत के मुताबिक वह बोता था। वह थोड़ी-सी दालें भी बो लेता था, हालाँकि इससे कोई खास फ़ायदा नहीं होता; लेकिन उसका उद्देश्य पैसा कमाना न था। अपनी ज़िन्दगी की ज़रूरतों को स्वयं पूरा करना ही उसका आदर्श था। चीनी या गुड़ बनाने के लिए वह थोड़ा-सा गन्ना बो देता था। वह अपने मवेशियों के लिए चारा भी बोता था और यह परवाह नहीं करता था कि पड़ोसी से चारा खरीदना स्वयं बोने की बनिस्बत सस्ता पड़ता है। खेती से नफ़ा कमाने या ज्यादा-से-ज्यादा नफ़ा देने वाली फ़सल बोने का ख़याल ही उसके दिमाग़ में कभी नहीं आता था। उसका तो उद्देश्य ही यह था कि बिना नौकरी किये या ज़रूरी वस्तुओं के लिए परावलम्बी हुए बिना वह अपना गुजारा कर सके। इसी स्वतन्त्र जीवन-क्रम के कारण लोग किसान की इज्ज़त करते थे। खेती उत्तम पेशा माना जाता था।

लेकिन आज ज़माना बदल गया है, सब हालतें बदल गई हैं। बड़े-बड़े बाज़ार और बड़ी-बड़ी व्यापारिक कम्पनियां इस ज़माने में खुल चुकी हैं। आमद-रफ्त की सहूलियतें मिलनेके कारण सारी दुनिया एक अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार के रूप में परिणत हो गई हैं। सभ्य संसार का दृष्टिकोण बदल गया है। संतुष्ट और सादे जीवन की अपेक्षा धन कमाना और विशाल सम्पत्ति का स्वामी बनना आज जीवन का उद्देश्य बन गया है। आज का आदर्श है अपनी वर्तमान अवस्था से असन्तोष, अपनी ज़रूरतों की वृद्धि और उन्हें पूरा करने के लिए पैदावार बढ़ाना। इसके विपरीत प्राचीन आदर्श था आवश्यकताओं की लगातार कमी और सरल

जीवन; लेकिन इस चर्चा में हम अपने क्षेत्र से दूर चले गये। हमें तो घटनाओं की ओर ही देखना है। पहले ज़माने में पैसे-रुपये आदि सिक्कों का इस्तैमाल बहुत कम होता था। प्रायः सब कारोबार चीज़ों के अदले-बदले से होता था। सरकारी टैक्स भी पैदावार के एक भाग के रूप में ले लिया जाता था। आजकल की तरह उस समय यह न होता था कि चाहे फ़सल थोड़ी हो या भाव कम हो, सरकार अपना निश्चित कर नकदी में ले ले। आज तो उसे हर हालत में चाहे छोटी-से-छोटी चीज़ खरीदनी हो, चाहे सरकार को टैक्स देना हो, ज़मींदार को लगान देना हो, महाजन को सूद देना हो या कोई दूसरा ख़र्च करना हो, फ़सल कटते ही अपनी पैदावार बेचनी पड़ती है, चाहे भाव अच्छा हो या बुरा। इस तरह उसकी पैदावार का बड़ा भारी हिस्सा उससे ले लिया जाता है और अपनी ज़रूरतों के लिए उसके पास बहुत कम रह जाता है। पहले वह समाज का एक स्वतंत्र सदस्य था; लुहार, बढ़ई आदि अपने कारीगर को, अपना हिसाब रखने वाले पटवारी को और अपने चौकीदार को वह आजीविका दिया करता था; लेकिन आज वह इन सबका आश्रित हो गया है। गंगा उल्टी दिशा में बहने लगी है।

आगे चलने से पहले आजीविका व जीवन-क्रम में अन्तर पर विचार कर लेना ज़रूरी है। यदि हम इस अन्तर को ठीक-ठीक समझ लें, तो हम किसान की सच्ची हालत और कठिनाइयों को, जिनमें वह इस नये परिवर्तन के कारण फँस गया है, जान सकेंगे।

पेशे व जीवन-क्रम में अन्तर

संक्षेप में जीवन-क्रम का अर्थ है संसार में स्वतंत्रतापूर्वक रहने का वह तरीक़ा, जिसे मनुष्य नफ़े-नुक़सान का ख़याल छोड़कर स्वाभाविक बुद्धि, स्वभाव व प्रथा के कारण अपनाता है। ऐसे जीवन-क्रम के मूल में यह मुख्य भाव काम कर रहा होता है कि

अपने जीवन की आवश्यकताओं के लिए बिना किसी दूसरे पर निर्भर हुए अपनी जिन्दगी अच्छे-से-अच्छे तरीक़े से गुज़ारना। इस जीवन-क्रम में पैसा कमा कर या विशाल सम्पत्ति का संग्रह करके अपनी ज़रूरतों को पूरा करना जीवन का उद्देश्य नहीं होता; बल्कि इसका असली उद्देश्य अपने समाज में सम्मान और प्रभाव की स्थिति प्राप्त करना होता है। प्राचीन काल में किसान ऐसा ही स्वतंत्र जीवन व्यतीत करता था, जबकि उसे लगान या मालगुज़ारी नगदी में न देनी पड़ती थी और न अपनी चीज़ें जैसे-तैसे बेच कर कुछ रुपया एकत्र करने की ज़रूरत थी। वह मज़े में अपनी जिन्दगी गुजारता था। उसे पैसा कमाने की या बाहरी दुनिया की ज़रा भी फ़िक्र न थी।

दूसरी ओर व्यापार को हम जीवन का एक क्रम कभी नहीं कह सकते। उदाहरण के तौर पर कल्पना कीजिए कि एक शख्स बहुत धनी है और किसी कारख़ाने या दुकान से हज़ारों रुपया पैदा कर रहा है, तथापि वह बहुत क़ंजूसी से गुज़र करता है और अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने की ओर क़तई ध्यान नहीं देता। इसका अर्थ यह हुआ कि कारख़ाने या दुकान से मिलने वाली भारी आमदनी का उसके जीवन के धरातल के बनाने में कोई स्थान नहीं है। इसके विपरीत यह हो सकता है कि रुपये की कमी की वजह से एक मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार अपनी ज़िन्दगी बसर न कर सकता हो; लेकिन इन दोनों सूरतों में मनुष्य के जीवन-क्रम को निर्धारण करने में उसके व्यापार या आमदनी का कोई भाग नहीं है। लाखों रुपया कमाने वाला एक मारवाड़ी व्यापारी बहुत ही सादगी से रहता है, जबकि उससे कहीं कम कमाने वाला एक अंग्रेज़ बहुत शानो-शौकत से रहता है। व्यापार का उद्देश्य ज्यादा-से-ज्यादा रुपया कमाना होता है और इसके लिए हमेशा ईमानदारी, सचाई

च नैतिकता नहीं बरती जाती। यह हो सकता है कि एक व्यापारी अपने व्यापार में चाहे कितनी ही अनैतिकता से काम लेता हो, लेकिन अपने जीवन-क्रम में सादगी का अवतार हो। एक व्यापारी की सफलता का रहस्य है उसकी हिसाब लगाने वाली बुद्धि। वह देखते-देखते हिसाब ठीक लगाने से क्षण में अमीर हो सकता है और दूसरे ही क्षण हिसाब में गड़बड़ी होने से वह कंगाल भी बन सकता है। किसी पदार्थ के मूल्य का निर्धारण करने वाली सब शक्तियों—बाज़ार की हालत, माँग, पैदावार, राजनैतिक और आर्थिक परिस्थिति आदि के ज्ञान के बिना व्यापार नहीं हो सकता ; लेकिन दूसरी तरफ़ जहाँ एक मनुष्य किसी विशेष जीवन-क्रम को अपनाता है, वहाँ वह उसके आर्थिक पहलू से कोई वास्ता नहीं रखता। उसका उद्देश्य तो सिर्फ़ यह होता है कि खूब मिहनत करता जावे और अपनी आमदनी के मुताबिक अपनी ज़रूरतों को पूरा करे।

पुराने ज़माने का किसान हमेशा अपने स्वभाव से ही इस प्रकार का जीवन व्यतीत करता था। पदार्थों के मूल्य पर असर डालने वाली बाहरी ताक़तों से वह न कोई वास्ता रखता था, न उनकी चिन्ता करता था। ऐसे बहुत कम मौक़े आते थे, जब उसे अपनी पैदावार बेचनी पड़ती हो और अपनी ज़रूरत की चीज़ें खरीदनी पड़ती हों। उसके कारोबार में पदार्थों के नक़द मूल्य का कोई खास स्थान ही न था। उसका तो उद्देश्य सिर्फ़ इतना होता था कि वह इतना अनाज और इतनी रूई बो दे, जिससे कि सरकारी मालगुज़ारी देने के बाद उसकी निजी ज़रूरतें पूरी हो जावें। दुर्भिक्ष या संकट के लिए भी वह अपने कोठार में अनाज आदि बचा रखता था। अच्छी फ़सल के मौसम में वह कुछ ज्यादा चीज़ें भी खरीद लेता था। सरकारी मालगुज़ारी भी नगदी में न होने और कुल फ़सल का एक हिस्सा होने के कारण

उसकी आर्थिक स्थिति पर कोई प्रभाव न डालती थी। दूसरी चीज़ें भी वह द्रव्य-विनिमय के द्वारा लेता था। वह कभी रुपयों-पैसों के रूप में अपनी ज़रूरतों को सोचता भी न था। सदियों से वह हर चीज़ को नगद के नहीं, बल्कि वस्तु-विनिमय के दृष्टि-कोण से देखने का आदी हो गया था।

लेकिन आज, हालत बिलकुल बदल गई है। आज हर एक चीज़ रुपयों-पैसों की कसौटी पर परखी जाती है। इसलिए वह बेचारा किसान अपने को बड़ी तकलीफ़ में पाता है। क़ीमतों का उतार-चढ़ाव उसकी समझ से बाहर है और वह नयी आर्थिक व्यवस्था से घबराया हुआ-सा है। वह तो सिर्फ अपने गाँव की मांग और पैदावार के सादे नियम से वाक़िफ़ है। यदि गाँव में पैदावार बहुत बढ़िया होती थी, तो उसे अपनी अभिलषित वस्तु के लिए कुछ ज्यादा अनाज देना पड़ता था। यदि फ़सल खराब होती थी, तो कुछ कम अनाज देने से भी वह वस्तु मिल जाती थी। क़ीमतों का एक दूसरा नियम भी वह समझता था कि फ़सल कटने के समय बाज़ार में बहुतायत के कारण पदार्थों की अनाज के रूप में क़ीमत कम होती है और बीज बोने के समय क़ीमत ज्यादा; क्योंकि उन दिनों गाँव में अनाज क़रीब-क़रीब ख़तम हो जाता है। लेकिन आज वह क्या देखता है? फ़सल अच्छी रहने पर भी क़ीमत चढ़ी होती है और फ़सल ख़राब होने पर भी कीमतें गिर जाती हैं। दरअसल वह यह नहीं जानता कि बाज़ार का भाव महज़ उसके अपने गाँव की पैदावार पर निर्भर नहीं है। अब उसे यह भी अनुभव होने लगा है कि अगर वह अपनी पैदावार जमा करले और पीछे से यका-यक क़ीमत गिर जावे, तो उसे सख़्त नुकसान हो सकता है; क्योंकि अब दुनिया के तमाम हिस्से आपस में एक दूसरे से बिलकुल मिले हुए हैं और इसलिए किसी एक ख़ास जगह की मांग और

पैदावार पर ही क़ीमतें निर्भर नहीं हैं। किसान यह नहीं जानता कि मांग और पैदावार के सिवा आयत-निर्यातकर, देश का सिक्का, विनिमय दर, किराया आदि दूसरी भी कुछ ताकतें क़ीमतों के उतार-चढ़ाव का कारण होती है। क़ीमतों के उतार-चढ़ाव का सवाल इतना पेचीदा हो गया है कि वड़े-वड़े अर्थ-शास्त्री भी चक्कर में आ जाते हैं; एक अनपढ़ किसान की, जो अपने गाँव से कुछ मील परे भी नहीं गया, क्या बिसात है ?

लोगों का आम ख़याल यह है कि उद्योग-धन्धों के कारोबार में सफल होने के लिए क़ीमतों के उतार-चढ़ाव का सूक्ष्मता से निरीक्षण और हिसावी योग्यता की आवश्यकता होती है, जव कि खेती के धन्धे में इन सब गुणों की जरूरत नहीं होती, इसे तो कोई भी अपना सकता है। न केवल भारत में, बल्कि अन्य विदेशों में भी निकम्मे अयोग्य किसान से भी उसका पेशा सुगमता से नहीं छुड़ाया जा सकता। यहाँ हर एक आदमी, जिसे कोई काम नहीं मिलता, खेती की ओर भागता है, चाहे वह खेती के सम्बन्ध में जानकारी रखता हो या न हो। जनता के नेता या सरकारी विशेषज्ञ किसानों को कोई अच्छी सलाह भी नहीं देते। सरकारी विज्ञप्ति किताबी बातें वताते तो हैं; लेकिन दरअसल उन्हें ख़ुद ही अनुभव नहीं होता। अनपढ़ किसान उनकी बातें सुन लेते हैं, लेकिन अन्दर ही अन्दर हंसते हैं। वे समझते हैं कि इन अँग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों को सिवा बातें वनाने के कुछ आता ही नहीं। ज़रूरत इस बात की है कि सरकारी विशेषज्ञ नये बीज, नये औज़ारों और नये खाद आदि के बारे में कोरे उपदेश ही न दें, लेकिन ख़ुद हाथों में हल पकड़ कर कुछ समय तक खेती करें और नये आविष्कारों की उपयोगिता उन्हें अमल में लाकर दिखावें। यदि वे अपने प्रदर्शन में सफल हो गये, किसानों की पहुँच के साधनों में रहकर उन्होंने उतने ख़र्च में ज्यादा पैदा कर लिया तो किसान

खुद-ब-खुद नये आविष्कारों को अपनाने लगेगा।

आज खेती पेशे के तौर पर की जाती है। किसान अपनी ज़रूरतों को देखकर नहीं; लेकिन दुनिया के बाज़ार या ज़रूरतों को देखकर फ़सल बोता है। लेकिन इससे भी दुःख की बात यह है कि इस पेशे में नफ़ा नहीं होता। और यदि कहीं होता भी है, तो इतना थोड़ा कि अच्छे समझदार योग्य आदमी खेती की ओर आकृष्ट ही नहीं होते। सब अयोग्य व्यक्ति, जो और किसी काम के लायक़ नहीं होते, खेती करने लगते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि खेती में लाभ बिलकुल नहीं होता। यदि किसान बीज, सूद, हल, लगान, मालगुज़ारी, आदि सबका हिसाब लगावे, तो पता लगे कि उसे खेती में घाटा हुआ है। फिर वह नुक्सान के पेशे को क्यों अपनाता है? क्यों नहीं उसे छोड़ देता? उत्तर स्पष्ट है। ख़ाली रहने और कुछ करते रहने में प्रत्येक मनुष्य कुछ-न-कुछ करना ही पसन्द करेगा; क्योंकि उसे यह उम्मीद रहती है कि स्यात इस वर्ष अच्छी पैदावार हो जाय। बिना पढ़ा-लिखा आदमी यदि खेती न करे तो क्या करे? केन्द्रीय बैंकिंग इन्कायरी कमेटी की रिपोर्ट से मालूम होता है कि "यह बिलकुल साफ़ है कि ज्यादातर मामलों में किसान के लिए अपनी ज़मीन बेचकर सारा रुपया को-ऑपरेटिव बैंक में जमा कर देना और स्वयं ५ आना दैनिक मज़दूरी का लेना ज्यादा फ़ायदेमन्द है।" इस तरह हमारे विचार के अनुसार स्थितियों का वर्तमान परिवर्तन और किसान का अपने को उनके अनुकूल न बदल सकना बीमारी का कारण है। उसकी ग़रीबी का मुख्य कारण यह है कि किसान को हालतों से लाचार होकर खेती को पेशे के तौर पर करना पड़ता है, जिसके लिए वह बिलकुल अयोग्य है। हमारा यह कहने का अर्थ यह नहीं कि किसान बिलकुल बेवक़ूफ़ और फ़िज़ूलख़र्च है; लेकिन हम पाठकों को यह बताना चाहते हैं

खेती के पेशे में लाचारी

कि किसी पेशे के लिए जो शिक्षा या अनुभव लेना पड़ता है, वह जीवन-क्रम की शिक्षा से भिन्न है। खूब तजुर्बेकारी व मेहनत से की गई बढ़िया पैदावार वाली फ़सल के होते हुए भी यह संभव है कि फ़सल के चुनाव की ग़लती की वजह से किसान तकलीफ़ में रहे। इसी तरह जब अनाज को जमा रखने से लाभ होता हो, तब अनाज़ बेच देने से किसान तबाह हो सकता है। पेशे के नुक्तेनिगाह से ये दोनों बातें बहुत ज़रूरी हैं; लेकिन जब खेती जीवन-क्रम हो जाता है, तब इन दोनों चीज़ों का कोई महत्व नहीं रहता। किसान साधारण जीवन-क्रम से जितना ज्यादा दूर होकर वर्तमान पेशे के जीवन की ओर जायगा, उतना ही वह अपने को अधिक ग़रीब या असहाय बना लेगा। हम आज यह उम्मीद नहीं कर सकते कि पुराने दिन फिर वापिस आवेंगे, लेकिन हम किसान को ठीक मार्ग बताकर उसकी सहायता ज़रूर कर सकते हैं, जिससे वह अच्छी तरह से जीवन-यापन कर सके।

भाग ३ : खेती पर प्रभाव डालनेवाले महत्वपूर्ण अन्य कारण

: १ :

खेती तथा दूसरे धन्धे

बहुत-से लोग खेती पर भी वही आर्थिक उसूल लागू करने की कोशिश करते हैं, जो वे दूसरे धन्धों पर करते हैं। यह एक बड़ी भारी भूल है। 'बिजिनैस मैन्स कमीशन' और 'रिपोर्ट आन एग्रिकलचरल क्रैडिट' में इस विषय पर बहुत विस्तार से विचार किया गया है। इनके लेखकों ने बताया है कि खेती दूसरे धन्धों जैसा धन्धा नहीं है। यह उनसे बहुत अधिक भिन्न है और इसलिए इसे उन आर्थिक उसूलों की कसौटी पर नहीं कसा जाना चाहिए, जिन पर बाक़ी धन्धों को कसा जाता है। खेती की दूसरे धन्धों से कुछ विशेषताएँ निम्न लिखित हैं:—

दूसरे धन्धों में पूँजीपति और मज़दूर जुदा-जुदा होते हैं; लेकिन खेती में किसान स्वयं मालिक भी है और स्वयं मज़दूर भी। खेती में पूँजीपति व मज़दूर के हित एक-दूसरे से इतने गुथे हुए होने से अर्थशास्त्री व क़ानून बनाने वाले पसो-पेश में पड़ जाते हैं।

खेती और दूसरे धन्धों का दूसरा महान् अन्तर यह है कि वर्षा, आँधी, तूफ़ान, पाला, ओला, अनावृष्टि और कीड़ों की बीमारी आदि पर खेती बहुत निर्भर करती है। यद्यपि इन कारणों से होनेवाली हानि को वैज्ञानिक उन्नति से कुछ कम किया जा

सकता है; लेकिन प्रकृति पर खेती की निर्भरता को बहुत कम रोका जा सकता है। इस तरह खेती उन परिस्थितियों में करनी पड़ती है, जिन पर मनुष्य का बहुत कम बस चलता है और इसीलिए कृषिजन्य पदार्थों के मूल्य पर मनुष्य अच्छी तरह नियंत्रण नहीं कर सकता।

दूसरे बड़े-बड़े व्यवसायों में पूँजीपति परस्पर मिलकर अपने व्यवसाय को नष्ट होने से या अनुचित स्पर्धा से बचा सकते हैं; लेकिन खेती में लाखों और करोड़ों उत्पादक किसानों में ऐसा कोई संगठन होना असम्भव है। इसलिए वे प्रधान व्यावसायिक संगठनों से होने वाले लाभ नहीं उठा सकते। जिस तरह पूँजीपति भावी लाभ की आशा से कम्पनियाँ खड़ी करके लोगों को हिस्से ख़रीदने के लिए तैयार करते हैं, उस तरह किसान भावी लाभ की आशा से कम्पनी नहीं खड़ी कर सकता। उसे तो अपने बल-बूते के भरोसे पर ही सारा धन्धा चलाना पड़ता है। किसी धन्धे में सफलता प्राप्त करने के लिए यह ज़रूरी है कि उस धन्धे का ख़र्च और आमदनी का बाक़ायदा हिसाब तैयार किया जाय। किसान को भी जानना चाहिए कि किसी फ़सल की पैदावार में उसे कितना ख़र्च करना पड़ता है और कितनी आमदनी होती है; लेकिन खेती सबसे कठिन और पेचीदा धन्धा है, इसमें हिसाब रखना बहुत मुश्किल है। दूसरे धन्धों में पूँजीपति भूखा नहीं मरता; वह शुरू में ही इतनी पूँजी एकत्र कर लेता है कि कुछ समय तक वह सब ख़र्च बरदाश्त कर सके। वह अपने माल को तभी बेचता है, जब उसके दाम लागत से कुछ ऊँचे हों; लेकिन किसान को तो सरकारी मालगुज़ारी, ज़मींदार का लगान, महाजन का सूद आदि चुकाने तथा अपने ख़र्च पूरे करने के लिए एकदम अनाज बेचना पड़ता है। किसान अपनी मरज़ी से अनाज नहीं बेचता। जब ख़रीददार की मर्ज़ी होती है तभी उसे अनाज

बेचना पड़ता है; क्योंकि किसान ग़रीब होता है और ख़रीददार व्यापारी उसी समय ख़रीदना चाहेगा, जबकि हालत उसके लिए सबसे अधिक अनुकूल और किसान के लिए सबसे अधिक प्रतिकूल हो। किसान किसी भी आर्थिक संकट का थोड़े समय तक भी मुक़ाबला नहीं कर सकता।

किसान के खेत पर उठने वाले दामों में और बाज़ार में फुटकर बिकने वाले दामों में बहुत अन्तर होता है। इसलिए जब कभी अनाज आदि के दाम चढ़ते भी हैं, तो दलाल और बीच के व्यापारी ही ज्यादा नफ़ा कमा लेते हैं। किसान को बहुत कम नफ़ा मिलता है। दूसरे धन्धों में थोक और फुटकर दामों में इतना अन्तर नहीं होता और बीच का दलाल बहुत नफ़ा अपने घर नहीं रख सकता।

दूसरे धन्धों में लागत कम करने के लिए अनेक तरीक़े काम में लाये जा सकते हैं। मशीनरी में सुधार करके माल की तैयारी कम समय में और ज्यादा मात्रा में की जा सकती है; लेकिन खेती तो भूमिविज्ञान और जीव-शास्त्र से सम्बन्ध रखने वाला विषय है। एक फ़सल के बोने और पकने में कुछ महीनों का नियत समय तो लगेगा ही। यदि वह पैदावार बढ़ाता है, तो दाम कम हो जावेंगे और फिर यह भी कोई भरोसा नहीं कि पैदावार बढ़ाने के लिए किया गया खर्च हमेशा ही अपने से ज्यादा पैदावार लावेगा। यह हम पहले भाग के पहले अध्याय में देख चुके हैं। जब तक माँग न चढ़े या उत्पादक किसानों में काफ़ी कमी न हो, तबतक कृषि-संबंधी पदार्थों के दाम बहुत नहीं बढ़ते; लेकिन खेती में लगे हुए करोड़ों किसानों में कमी करना असम्भव है। हज़ारों-लाखों निकम्मे और अयोग्य किसानों ने खेती का पेशा अपनाया हुआ है। उन्हें अलग करना कठिन है। इनकी वजह से फ़सलों के भाव ऊँचे नहीं होने पाते।

दूसरे धन्धों से खेती में एक बड़ा अन्तर यह भी है कि जहाँ दूसरे धन्धों को विभिन्न समयों और परिस्थितियों के अनुसार एकदम ढाला जा सकता है, वहाँ खेती उतनी लचकीली और सुगम नहीं है। उसे बदलने के लिए जरूरी समय लगेगा ही। कारखानों में आज जिस माल की जरूरत है, उसे दो-तीन दिनों या घण्टों में बनाया जा सकता है; लेकिन खेती में बोने का समय एक बार गुजर जाने पर तब्दीली असंभव हो जाती है, उसके लिए कुछ महीने इन्तजार करना ही पड़ेगा। कपड़े की माँग कम होने पर मिलमालिक एकदम कुछ मजदूर निकाल देगा, कुछ तकुए और सांचे कम कर देगा। ऐसे समय में अक्सर वह निकम्मे या कम-योग्य मजदूरों को ही बरखास्त करेगा। किसान स्वयं मजदूर है, वह किसे निकाले? वह खेत को बो चुका है, उस पर खर्च कर चुका है, अब उसे कैसे छोड़े? शहर का निकाला हुआ मजदूर एकदम अपना नया पेशा ढूँढ़ सकता है; लेकिन गाँव के किसान के लिए अपना घर छोड़े बिना यह भी संभव नहीं।

सब बड़े-बड़े धन्धों में मैनेजर, उत्पादक, मजदूर और विक्रेता आदि अलग-अलग आदमी होते हैं; जो जिस काम में चतुर होता है, उसे वही काम दिया जा सकता है; लेकिन खेती में एक किसान ही पूँजीपति है, वही मजदूर है, वही उत्पादक है और वही बाजार में अपना माल बेचता है। उसे सब काम करने पड़ते हैं, चाहे वह सब कामों में होशियार हो, या न हो। खूब मेहनत से हल चलाने और बढ़िया खेती करने वाला किसान बहुत मुमकिन है कि व्यापारिक बुद्धि न रखता हो और इस तरह अच्छी पैदावार करके भी पैसा न कमा सके।

इन सबका प्रभाव खेती पर यह पड़ता है कि दूसरे धन्धों की अपेक्षा खेती का व्यवसाय आर्थिक दृष्टि से सफल नहीं होने पाता। यही कारण है कि इस अभागे देश में ही नहीं; बल्कि

संसार के तमाम मुल्कों में खेती ने कभी प्रतिभाशाली और महत्वाकांक्षी लोगों को अपनी ओर नहीं खींचा। खेती में न आराम-आसायश की ज़िन्दगी है और न अच्छी आमदनी ही है। न खेती में पढ़े-लिखे बाबुओं की सोसाइटी है और न आजकल की आज़ादी का-सा जीवन ही है। इसलिए दुनिया के तमाम मुल्कों का हाल यह है कि अच्छे-अच्छे दिमाग़ खेती को छोड़कर दूसरे धन्धों में जा रहे हैं। भारत में यद्यपि खेती पर गुजारा करने वालों की संख्या लगातार बढ़ रही है, तथापि यह भी उतना ही सच है कि हर एक पढ़ा-लिखा युवक देहाती-दुनिया को छोड़कर दूसरे शहरी धन्धों की फिक्र करता है। जिस धन्धे में दिमाग़ वाले आदमी शामिल नहीं होते, वह धन्धा कभी पनप नहीं सकता। यही हाल खेती का है। इसीलिए यह धन्धा कम योग्य और कम समर्थ आदमियों के हाथ में रोज़मर्रा आता जाता है।

: २ :

ज़मीन काश्तकारी की व्यवस्था

खेती की विशेषताओं पर विचार करने के बाद हमें उन ताक़तों पर भी विचार करना चाहिए, जो खेती पर खास असर डालती हैं। इससे हम उन तरीक़ों पर भी विचार कर सकेंगे, जो किसान की दुर्दशा दूर करने के लिए उपयोगी हो सकते हैं।

खेती पर असर डालने वाली शक्तियां

पिछले यूरोपियन महासमर के बाद बहुत से देशों ने खेती की उन्नति के तरीक़ों पर विचार करने के लिए कमीशनों व कमेटियों की नियुक्ति की थी। लड़ाई के दिनों युद्ध में भाग लेने वाले हर एक देश ने यह महसूस किया था कि दरअसल युद्ध में सफलता

या असफलता जीवन-निर्वाह के लिए जरूरी भोज्य पदार्थों की कमी-बेशी पर निर्भर है। उस लम्बी लड़ाई में उन्होंने यह अनुभव किया कि वही देश जीत सके हैं, जो बहुत समय तक बिना किसी दूसरे देश का मुँह ताके अपना गुजारा कर सकते हैं। भोजन मनुष्य के जीवन के लिए जरूरी है और खेती से भोजन प्राप्त होता है, इसलिए स्वभावतः ही सभी देशों का ध्यान भोजन पैदा करने वाले धन्धे की ओर खिंचा। उन्होंने इसकी जाँच की कि किस तरह से इस महत्वपूर्ण धन्धे को मजबूत व स्थायी बनाया जा सकता है। यद्यपि उन देशों के किसानों की हालत हिन्दुस्तानी किसानों से कहीं अच्छी थी, वे कहीं अधिक साधन-सम्पन्न थे, फिर भी वे इस नतीजे पर पहुँचे कि किसान की आमदनी किसी दूसरे धन्धे में लगे हुए उसी योग्यता, शक्ति और शिक्षा के मजदूर की बनिस्बत बहुत कम होती है। उन सबका बिना किसी मत-भेद के यह निश्चय था कि खेती में अन्य धन्धों को देखते हुए सबसे कम आमदनी होती है, इसीलिए सब पढ़े-लिखे, बुद्धिमान और योग्य आदमी खेती छोड़कर दूसरे धन्धे अख़्तियार करते जा रहे हैं और देहातों की आबादी कम होती जाती है। ये बातें अर्थ-शास्त्रियों व राजनीतिज्ञों को चौंका देने के लिए काफ़ी थीं। इसलिए उन्होंने स्थिति का गम्भीर तथा विशद अध्ययन करके, बुराई का इलाज कर खेती को ज्यादा आकर्षक बनाने का निश्चय किया। उनके बताये हुए तरीकों पर हम आगे विचार करेंगे। उन्होंने जाँच करते हुए यह देखा कि कुछ ताक़तें खेती पर बहुत असर डालती हैं। एग्रिकलचरल ट्रिब्यूनल आफ़ इग्लैण्ड ने १९२४ ई० में जिन ऐसी मुख्य शक्तियों का ज़िक्र किया था, वे केवल इंग्लैण्ड में ही नहीं, दूसरे तमाम मुल्कों में भी उसी प्रकार लागू हैं। इसलिए अपने देश में वे शक्तियाँ किस तरह काम करती हैं, यह विचार कर लेना ठीक होगा। इस विवेचन

से हम यह भी जान सकेंगे कि किसान अपने भाग्य के निर्माता स्वयं नहीं है। कई ताक़तें, जो उनके काबू से वाहर हैं, जुदा-जुदा तरीक़ों से उनकी आमदनी पर असर डालती हैं। उक्त रिपोर्ट में खेती पर प्रभाव डालने वाली निम्न-लिखित मुख्य शक्तियों की गणना की गई थी:—

(१) ज़मीन को पट्टा देने के नियम, जिनमें छोटी-छोटी जोत का इन्तज़ाम भी शामिल हो।

(२) देश का आर्थिक संगठन और खास कर नक़दी व तटकरों आदि से सरकार का खेती को सहायता देना।

(३) साधारण शिक्षा का प्रबन्ध, और ख़ासकर खेती की शिक्षा और खोज का प्रबन्ध।

(४) खेती का आर्थिक संगठन, किसानों को खरीद-फ़रोख़्त की सुविधायें देना और कोऑपरेटिव सोसाइटियों के ज़रिये कर्ज़ा देना व बीमा वग़ैरा का इन्तज़ाम।

(५) मवेशियों और फ़सलों की उन्नति के लिए योजनाएं, पैदावार का दर्जा नियत करने व फ़ालतू घास और कीड़ों को नष्ट करने के उपाय।

(६) रेल, मोटर आदि याता-यात साधनों का संगठन, बिजली, बेतार की बर्की व वायरलैस मुहय्या करने का इन्तज़ाम, नये जंगल लगाने की कोशिश, छोटे-छोटे घरेलू धंधों की सहायता आदि।

(७) ऐसी सरकारी या ग़ैर-सरकारी संस्थाएँ, जो कृषि-सम्बन्धी नीति को केन्द्र व प्रान्तों में अमली जामा पहनावें।

हम हर एक विषय पर क्रम से अपने देश को मद्दे नज़र रखते हुए विचार करेंगे।

ज़मीन काश्तकारी की व्यवस्था

ज़मीन देश की सम्पत्ति है और देश की समृद्धि इस पर निर्भर

है कि वह प्रकृति की इस देन को किस तरह इस्तैमाल करता है। इसलिए देश की समृद्धि के लिए यह सबसे ज़रूरी है कि ज़मीन को भिन्न-भिन्न लोगों में बाँटने का बेहतर-से-बेहतर तरीका अख्तियार किया जाय, ताकि देश उसका ज्यादा-से-ज्यादा अच्छा इस्तेमाल कर सके। अगर यह मान लिया जाय कि ज़मीन देश की सम्पत्ति है—इसे न मानने का भी कोई प्रकट कारण नहीं दीखता—तो फिर प्रत्येक देश का यह फ़र्ज़ हो जाता है कि वह प्रकृति की इस देन से ज्यादा-से-ज्यादा दौलत पैदा करने के उपाय काम में लावे। इङ्गलैंड के उक्त खेती-जाँच-कमीशन की रिपोर्ट में बिलकुल ठीक लिखा है कि "खनिज द्रव्य एक बार निकाल लेने के बाद समाप्त हो जाते हैं; लेकिन खेत में पैदा होनेवाली दौलत कभी खतम नहीं होती; बल्कि एक तरीक़े से हमेशा बढ़ती रहती है।" ज़मीन; क्योंकि कच्चा माल पैदा करने का अनंत भण्डार है और खेती सब व्यवसायों के लिए कच्चा माल मुहय्या करने का धन्धा है, इसलिए हरेक मुल्क का यह प्रथम कर्तव्य है कि इसकी ओर ज्यादा-से-ज्यादा ध्यान दे। ज़मीन का बटवारा या पट्टा इस तरह का होना चाहिए कि किसान को यह विश्वास हो जाय कि पैदावार का बड़ा भाग उसीके पास बच रहेगा। यदि किसान यह अनुभव करता है कि लगान, मालगुजारी आदि विविध टैक्स देने के बाद उसके पास कुछ भी नहीं बचता या बहुत थोड़ा बच रहता है, तो उसका दिल खेती करने में न लगेगा। इसलिए प्रत्येक देश-हितैषी का यह प्रधान कर्तव्य है कि वह यह देखे कि जो किसान ज़मीन पर हल चलाता है, खून पसीना एक करता है, उसे पैदावार का सबसे ज्यादा हिस्सा मिलना चाहिए। सारे देश को रोटी और कपड़ा देने वालों के जीवन-निर्वाह के प्रधान सिद्धान्त की जो देश उपेक्षा करता है, उसे समृद्ध होने की आशा ही छोड़ देनी चाहिए।

एक खेत से ज्यादा-से-ज्यादा पैदावार करने की प्रेरणा किसान को देने के लिए सबसे जरूरी चीज़ यह है कि उस यह भरोसा रहना चाहिए कि उसे खेत से बेदख़ल न किया जायगा। जिस ज़मीन पर वह खेती करता है, उसमें उसकी दिलचस्पी रहनी चाहिए। सबसे बेहतर तरीक़ा तो यह है कि किसान हर क़िस्म की दस्तन्दाजी से निश्चिन्त रहे और साथ ही देश को भी यह अधिकार रहना चाहिये कि लापरवाह या निकम्मे किसान को अलग कर दे। पुराने सुनहले दिनों में, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, ज़मीन तमाम गाँव की होती थी और पंचायत गाँव वालों में उसे बाँटती थी। पंचायत को यह पूरा हक़ था कि वह निकम्मे किसान से ज़मीन लेकर उससे ज्यादा पैदा करने वाले किसी अच्छे किसान को दे दे। परिवार की जरूरतों के अनुसार किसी को ज्यादा ज़मीन देने का भी पंचायत को हक़ था। ज़मीन सारे गाँव की है और सारे गाँव के हित में ही खेती की जानी चाहिये, यह भावना सबसे प्रधान थी। उन दिनों ज़मीन के बटवारे में निजी जायदाद का खयाल तक न था। उस समय न किसी को मौरूसी हक़ था और न बेदख़ली का डर। यह हक़ सिर्फ ग्राम पंचायत को था। राजा को भी जमीन के प्रबन्ध में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार न था. उसे तो अपने टैक्स या हिस्से से ही मतलब था। वह गाँव वालों को बाहरी हमलों से बचाने की गारन्टी देता था। इस सेवा के बदले उसे गाँव अपनी पैदावार का कुछ हिस्सा देता था।

बेदख़ली से बेफ़िक्री

हिन्दू-शास्त्रों के अनुसार राजा तक भी ज़मीन का मालिक नहीं होता है। महान् दार्शनिक जैमिनि लिखते हैं कि 'न भूमिः स्यात् सर्वं प्रत्यविशिष्टवत्' (६-७-३) अर्थात् "राजा भूमि का दान नहीं कर सकता; क्योंकि जहाँतक उसकी मिलकियत का सम्बन्ध

ज़मीन का मालिक राजा नहीं

है, उसके लिए सब बराबर हैं।" इसपर टीका करते हुए शबर स्वामी लिखते हैं:—

"ज़मीन की मिलकियत का जिस तरह बादशाह को हक़ है, उसी तरह सब लोगों का हक़ भी है। मिलकियत के सम्बन्ध में दोनों में किसी तरह का फ़र्क नहीं है। बादशाह होने की वजह से उसे सिर्फ़ इस बात का हक़ है कि ज़मीन की पैदावारों की हिफ़ाज़त के सिलसिले में पैदावार का एक वाजिबी हिस्सा ले ले।" तैत्तिरीय ब्राह्मण की टीका करते हुए सायण लिखते हैं कि—"यज्ञ में राजा को सिर्फ़ अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति दान देने का अधिकार होना चाहिए।" (१-४-७-७) वे आगे लिखते हैं कि—"ज़मीन राजा की सम्पत्ति नहीं है, देश की ज़मीन दान में नहीं दी जासकती।" कवि कालिदास ने भी इसी भाव को निम्नलिखित सुन्दर शब्दों में रक्खा है:—राजा किसानों से उनके हित में ही ख़र्च करने के लिए मालगुज़ारी लेता था, सूर्य भी तो ज़मीन से नमी इसलिए खींचता है कि उसे कई हज़ार गुणा करके वापिस कर सके।*

सबसे पहले अँग्रेज़ी राज में ज़मीन नीलामी के ज़रिये ज़मीदारों को काश्त के लिए दी गई और उन्हें जमीन का मालिक मान लिया गया। जब बंगाल में अंग्रेज़ी हकूमत क़ायम हुई, तो वहाँ बहुत ही बुरे ढंग की ज़मींदारी क़ायम की गई। ज़मींदार और किसान के बीच कहीं-कहीं चौबीस तक काम करनेवाले मध्यस्थ लोग पैदा कर दिये गये। ज़मीन का जो असली मालिक था, उसे मिलकियत से बिलकुल महरूम कर दिया गया। अवध में शुरू में तो ज़मीन काश्तकारों को दी गई, लेकिन बद-किस्मती से

जमींदारी प्रथा का जन्म

---

*प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः॥ रघुवंश—१-१८

कुछ अरसे बाद ज़मींदारी का तरीक़ा चालू कर तालुक़ेदारों को सनदें दे दी गईं। काश्तकारी के इतिहास में जाना हमारा उद्देश्य नहीं है; लेकिन यह हम निस्संकोच और बिना प्रतिवाद के भय के कह सकते हैं कि आजकल की भूमिव्यवस्था का प्राचीन व्यवस्था से रत्तीभर भी संबंध नहीं है। हिन्दुस्तान की वर्तमान भूमिव्यवस्था को दो भागों में बाँटा जा सकता है—ज़मींदारी और रैयतवारी। इन दोनों तरीक़ों में ख़ास फ़र्क़ यह है कि ज़मींदारी में तो जमीन का मालिक ज़मींदार होता है और रैयतवारी में सरकार, अलबत्ता सरकार के दिये हुए पट्टे को किसान भी इसी तरह फ़रोख़्त कर सकता है, जैसे ज़मींदार अपनी ज़मीनों को। ज़मींदार आमतौर पर अपनी ज़मीन को खुद काश्त नहीं करता; बल्कि लगान पर दूसरे काश्तकारों को उठा देता है। कुछ ज़मींदार खुद भी काश्त करते हैं; लेकिन ऐसी ज़मीनें बहुत थोड़ी हैं जिनको मालिक जोतता हो। ज़्यादातर ज़मीनें किसानों के हाथ से निकलकर महाजनों के हाथ में जारही हैं, जिससे किसान की हैसियत मामूली काश्तकार की रह जाती है। इस बात के आँकड़े नहीं मिलते, जिससे यह मालूम हो जाय कि कितना रक़बा जमींदार काश्त करते हैं और कितना ग़ैरज़मींदार। युक्तप्रान्त में २९,०,२९,९०७ एकड़ों में सिर्फ़ ५८,२९,४६३ एकड़ सीर या खुद काश्त में दर्ज है। अवध में ९८,६६,७७१ एकड़ों में सिर्फ़ ११,३५,३९ एकड़ सीर व खुद काश्त में दर्ज हैं। फिर यह भी लोगों से छिपा नहीं है कि सीर का भी काफ़ी हिस्सा दूसरे काश्तकार काश्त करते हैं। रैयतवारी में भी हालत इससे अच्छी नहीं है। बहुत बड़ा रक़बा शिकमी काश्तकार जोतते हैं। जिसके नाम पर पट्टा होता है, वह खुद-काश्त नहीं करता; बल्कि असली काश्तकार और कोई होता है। अक्सर बड़े-बड़े पट्टेदार एक इंच भी ज़मीन खुद काश्त नहीं करते; बल्कि दूसरों को ज़मीन उठा देते हैं। पट्टेदारों

के पास ज़मींदारों की बनिस्बत खुद-काश्त का रक़बा ज्यादा होता है। ज़मींदारी और रैयतवारी दोनों सूरतों में असली काश्तकार ज़मीन का मालिक नहीं होता। यह ठीक है कि सरकार ने रैयत को मौरूसी हक़ दिया है और बेदख़ली के ख़िलाफ़ भी किसान को संरक्षण दिये हैं; लेकिन ऐसे संरक्षित किसानों का औसत बहुत कम यानी मुश्किल से ५० फ़ीसदी से कुछ कम ही है। जो कानून बने भी हैं, उनकी लगातार अवहेलना की जारही है। बड़े पैमाने पर बेदख़लियाँ करना और मनमाने ढंग पर लगान बढ़ा देना मामूली बात हो गई है। युक्तप्रान्त की १९३४-३५ की रिपोर्ट के अनुसार आगरा-टैनैंसी एक्ट की रू से जहाँ १९३३-३४ में १,६५,४६४ नालिशें और बेदख़लियाँ हुई थीं, वहाँ १९३४-३५ में उनकी संख्या १,७१,५७४ हो गई। पिछले वर्ष के मुकाबले में मुकद्मों की संख्या ७३,३१८ से ७६,६५६ हो गई और जिस क्षेत्र में बेदख़लियाँ हुईं उसका विस्तार २१,४,०००से बढ़कर २३,१७,४४० एकड़ हो गया। अवध-रैण्ट-एक्ट की रू से भी नालिशों और दरख्वास्तों की संख्या ७०,०६५ से ७७,४१३ हो गई। अब काँग्रेसी सरकारें जो नये उपाय बरत रही हैं, उससे जाकर इस संख्या की वृद्धि में कमी हुई है और आगे कमी होने की संभावना है।

बहुत भारी लगान

असली काश्तकार प्रायः ज़मीदार या पट्टेदार को लगान अदा करता है। संभव है कि कुछ लोग यह ख़याल करें कि किसान को अनुपात से लाभ ही होता होगा, लेकिन सचाई इसके विपरीत है। हम पहले भी कहीं लिख आये हैं कि ज़मीन को माँग ज्यादा होने से पट्टेदार या ज़मींदार एक किसान को दूसरे के मुकाबिले में खड़ा करके लगान बेइन्तिहा बढ़ा देते हैं। इसकी कोई रोकथाम नहीं है; क्योंकि सरकार ज़मीदार के लगान पर मालगुज़ारी नियत करती है। इसलिए वह यह तमाशा देखती रहती है और जब नये बन्दोबस्त

का वक्त आता है, अपनी मालगुज़ारी भी बढ़ा देती है। सरदी-गरमी, वर्षा में दिन-रात एक करने वाले किसान को काश्तकारी का पेशा अख़्तियार करने की सज़ा भुगतनी पड़ती है। न ज़मींदार उसपर रहम खाता है, और न सरकार को उसपर तरस आता है। पिछले कुछ सालों से सरकार ने ज़रूर लगानमें कमी की है; लेकिन लगान व मालगुज़ारी का नियम अब भी वही है। काँग्रेसी सरकार से यह उम्मीद की जाती है कि वह इस प्रथा को बदल देगी।

१८८० में दुर्भिक्ष-कमीशन ने क़ानून बनाकर लगान के नियत करने पर विशेष ज़ोर दिया था और यह भी सिफ़ारिश की थी कि लगान में भी सिर्फ़ बन्दोबस्त के वक्त मालगुज़ारी के मुताबिक़ ही वृद्धि करनी चाहिए। कमीशन ने ११६ परिच्छेद में लिखा था कि—"हमारी राय में पुराना तरीक़ा फिर अख़्तियार करने से बहुत-कुछ ख़राबियाँ दूर हो सकती हैं अर्थात् लगान भी सिर्फ़ मालगुज़ारी के साथ समय-समय पर बदला जाय। जो अफ़सर मालगुज़ारी नियत करता है, वही लगान भी मुकर्रिर कर दिया करे। लगान का नियत करना भी बन्दोबस्त अफ़सर का काम होना चाहिए। (दक्षिण भारत में यही तरीक़ा है) वही लगान की परिवर्तित सूची के आधार पर अनुपात से मालगुज़ारी नियत करे। इसलिए हम सिफ़ारिश करते हैं कि भिन्न-भिन्न प्रान्तों को यह योजना भारत सरकार के सामने पेश करनी चाहिए, बशर्ते कि उनकी सम्मति में ऐसा करने में ज़मीदारों के साथ अन्याय न हो। हमारी अपनी सम्मति में आमतौर पर यह तरीक़ा बहुत लाभकर होगा। "अगर यह सिद्धान्त मान लिया जाय तो बंगाल में ग़ालिबन तीस साल से पहले लगान में वृद्धि न होगी और इस्तमरारी-बन्दोबस्त की वजह से इसके बाद मालगुज़ारी तब-दील न होगी।" लेकिन सरकार ने इस योजना को स्वीकार नहीं किया; क्योंकि फिर बन्दोबस्त पर लगान व मालगुज़ारी बढ़ाने

का मौक़ा कैसे मिलता? इसलिए जहाँतक ज़मीन के लगान का ताल्लुक़ है, किसानों की मौजूदा हालत बड़ी दर्दनाक है।

ज़मींदारी पद्धति में, जिसमें किसान खुद ज़मीन का मालिक नहीं होता, निम्नलिखित दोष हैं :—

ज़मींदारी प्रथा के दोष

१–किसान का भूमि से कोई सम्बन्ध नहीं होता। उसे बेदख़ली या आमदनी की बजाय ज्यादा अनुपात से लगानवृद्धि का डर होता है, इसलिए वह भूमि की उन्नति में कभी दिलचस्पी नहीं ले सकता। भूमि की उन्नति में खर्च तो उसे करना पड़ता है और लगान वृद्धि के रूप में उसका लाभ ज़मींदार के पास चला जाता है, यद्यपि वह भूमि की उन्नति में न कोई सहायता करता है, न कोई खर्च। ऐसे आश्चर्यजनक उदाहरण भी कई मिलेंगे कि किसानों ने कुआँ खोदने की कोशिश की, या अपने खेत की हालत सुधारने के लिए उसी किस्म की और कोई कार्रवाई की, तो उसके खिलाफ़ अदालत में उसकी बेदख़ली की चाराजोई की गई।

२—किसान हमेशा ज़मींदार की दया पर जीता है और खासकर उस हालत में, जबकि ज़मींदार तमाम गाँव का मालिक हो या अपने इलाके में बहुत प्रभाव रखता हो। इससे किसान नैतिक दृष्टि से भी बहुत दुर्बल होजाता है। वह अपने को हमेशा निराश, दीन और तुच्छ प्राणी समझने लगता है।

३—ज़मींदार उचित या अनुचित तरीक़े से लगान बढ़ाने की कोशिश करता है। वह उस व्यक्ति के हित का जरा भी ख़याल नहीं करता, जो हमेशा उसकी जेब भरता है। वह अपना स्वार्थ साधन करने के लिए दो को लड़ाकर हकूमत करने की नीति पर अमल करता है। वह गाँव में मतभेद पैदा करता है, पार्टियाँ बनाता है। इस तरह वह गाँव के सामूहिक और प्रजातंत्री-जीवन की जड़ काटता है।

४—किसान हमेशा अपनी आमदनी का बड़ा भाग ज़मींदार को देकर स्वयं ग़रीब रहता है। लगान के अलावा भी ज़मींदार किसान से बहुत-सी दूसरी ग़ैर-क़ानूनी टैक्स या चंदे लेता है, जो मिलाकर किसान पर बहुत भारी भार होजाती है। इन ग़ैर-क़ानूनी लोगों की संख्या पचासों तक जा पहुँची है। घोड़ा, बग्घी, हाथी, मोटर, शादी या अन्य घरेलू उत्सव, अफ़सरों को पार्टी आदि हरेक आवश्यकता के लिए अधिकाँश ज़मींदार किसानों पर टैक्स लगा देते हैं।

५—ज़मींदारी की प्रथा ने देश में एक ऐसी श्रेणी पैदा कर दी है, जो दूसरों की कमाई पर गुज़ारा करने की आदी हो गई है। उसे अपनी खेती की उन्नति में ज़रा भी दिलचस्पी नहीं होती। सिर्फ़ लगान पर गुज़ारा करने वाले समाज में मुफ़्तख़ोरों की संख्या बढ़ाती है। अगर ये लोग अपनी ताक़त का नाजायज़ इस्तेमाल करें या काश्तकारों पर ज़ुल्म करना शुरू करें, तो समाज को बहुत नुक्सान पहुँच सकता है। ऐसी श्रेणी समाज या देश के लिए बहुत हानिकारक सिद्ध होती है।

६—ज़मींदारी की प्रथा देश में दो ऐसी श्रेणियाँ बना देती है, जो आपसमें हमेशा एक दूसरे के विरुद्ध रहती हैं। इस विरोध व संघर्ष के फलस्वरूप लोग अपना समय और अपनी शक्ति दूसरे के बरख़िलाफ़ मुकदमों व षड़यंत्रों में व्यतीत करने लगते हैं। जबतक ज़मींदार का ज़ोर रहता है, किसान पर तरह-तरह के ज़ुल्म व अत्याचार होते हैं। जहाँ उसका ज़ोर या असर कुछ कम हुआ, किसान उसे तबाह या बरबाद करने की कोशिशों में लग जाता है। यह परस्पर का संघर्ष आज भी जारी है, और उस समय तक जारी रहेगा, जबतक दोनों ख़तम नहीं हो जाते।

७—किसान के पास अपनी साख के लिए कोई जायदाद नहीं होती। इसलिए उसे इतनी ज़्यादा दर पर कर्ज़ लेना पड़ता है

कि जिसको खेती की आमदनी अदा नहीं कर सकती।

८—ज़मींदार अपने को असाधारण व्यक्ति समझने लगता है, इसलिए हाथ से काम करने में बेइज्ज़ती मानने लगता है।

९—जब कभी दुर्भिक्ष पड़ता है, या फ़सल ख़राब हो जाती है, तो ज़मीदार उसे छिपाना चाहता है और मालगुज़ारी में कमी करने का विरोध करता है; क्योंकि मालगुज़ारी की कमी से लगान में भी, जो ज़मीदार का लाभ है, कमी हो जाती है। दूसरी ओर सरकार का भी इसी में लाभ है कि चाहे खेती अच्छी हो या बुरी; लेकिन ज़मींदार अपने निजी लाभ के ख़याल से दुर्भिक्ष को स्वीकार न करें।

१०—हर तीस साल के बाद बन्दोबस्त होता है और माल-गुज़ारी भी बढ़ जाती है। इसके साथ ज़मींदार को भी मालगुज़ारी के अनुपात में और कभी बग़ैर अनुपात के लगान बढ़ाने की इजाज़त दे दी जाती है।

११—लगान या मालगुजारी मुकर्रिर करते समय सरकार का यह कर्तव्य है कि वह खेती की वास्तविक आमदनी के आधार पर महसूल लगावे; लेकिन बदकिस्मती से न तो ज़मींदार और न सरकार इस किस्म की जाँच-पड़ताल करते हैं; बल्कि मुका-बले से बढ़ाये हुए लगान पर ही सरकारी मुहर लगा दी जाती है। इसका किसान की आर्थिक स्थिति पर बड़ा भीषण प्रभाव पड़ता है।

दुनिया के दूसरे देश बहुत पहले इन कठिनाइयों को हल कर चुके हैं और अन्त में इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि जमीन का मालिक होकर ही किसान अपने को सुरक्षित समझने लगता है। ज़मीन से उसे प्रेम हो जाता है, जो और किसी तरीक़े से नहीं हो सकता। उन्होंने यह भी देखा कि चाहे

विदेशों में किसान को ज़मीन का स्वामी कैसे बनाया गया?

को-आपरेटिव सोसाइटी हो या किसानों की निजी अलग-अलग खेती हो, इससे किसान की साख बढ़ जाती है। यूरोप के अधिकांश देशों में सरकारें किसानों को ऐसी सुविधाएं देती रहती हैं कि वे ज़मीदारोंसे ज़मीनें ख़रीद सकें। उदाहरण के तौर पर उन्हें ३ फ़ी-सदी सूद पर सरकार रुपया देती है, जिसे ३० या ६० सालोंके लम्बे अरसे में क़िस्तवार वसूल करती है। इस दिशा में डेनमार्क का इतिहास बहुत लाभकारी और शिक्षाप्रद है। बहुत से निरीक्षकों की सम्मति में डेनमार्क की समृद्धि का मुख्य कारण यही है कि वहाँ के किसान खुद ज़मीन के मालिक हैं। १८५०ई० में उन काश्तकारों की संख्या जो ज़मीन के मालिक न थे, ४२.५ फ़ीसदी थी। १९०५ में यह संख्या घट कर सिर्फ़ १० फ़ीसदी रह गई और आज ९२ फ़ीसदी किसान अपनी ज़मीन के खुद मालिक हैं। इसकी तुलना ज़रा पंजाब के आँकड़ों से करिये। १९११ में ज़मीन की आम-दनी पर गुज़ारा करनेवालों की संख्या ९ लाख २९ हज़ार थी, जो १९२१ तक बढ़कर १० लाख ८ हज़ार तक पहुँच गई। हमने पंजाब का उदाहरण इसलिए दिया है कि वहाँ क़ानून इन्तकाल आराज़ी लागू है और खेती का पेशा न करने वाली जातियों को ज़मीन बेची नहीं जा सकती। दूसरे सूबों की हालत तो इससे भी ख़राब होगी।

इंग्लैंड में १९०८ से १९१४ के बीच थोड़ी-थोड़ी भूमि हासिल करने के क़ानून से किसानों को ज़मीन हासिल करने में बड़ी सहायता मिली है। १८४८ ईसवी में वहाँ 'किसानों के दोस्त' के नाम से एक बड़ी जबरदस्त राजनैतिक संस्था बन चुकी थी। इस संस्था ने ऐसे क़ानून पास कराने पर ख़ास ज़ोर दिया, जिनके कारण तालुकेदारों को अपने प्राचीन अधिकार किसानों को बेचने के लिए विवश किया जा सके। दूसरी ओर ज़मींदारों ने भी

हाथ आगे बढ़ाया। ज़मींदारों की एक संस्था ने ज़मींदारों को यह सलाह दी कि वह बड़ी खुशी से अपनी ज़मीनें काश्तकारों के हाथ बेच दें। १८६१ ई० में ऐसा क़ानून पास हो गया, जिसके कारण ज़मींदारों में खुद अपनी ज़मीनें बेचने का आन्दोलन शुरू हो गया; लेकिन इसके साथ ही यह भी ख्याल रखा गया कि किसानों को ज़मीन का इतना अधिक मूल्य न चुकाना पड़े कि वे हमेशा के लिए उस बोझ से दब जायँ। दूसरी तरफ़ यह भी ख्याल रखा गया कि ईरान की तरह उन्हें इतना भारी रकबा भी न दे दिया जाय, जिसका सम्भालना उनकी ताक़त से बाहर हो। यद्यपि यह क़ानून १८६६ तक चालू रहा; लेकिन इससे बहुत पहले ही वह अपना उद्देश्य पूरा कर चुका था। १८६१ से १८६० तक इस क़ानून की वजह से बहुत-सी ज़मींदारियाँ किसानों की सम्पत्ति बन गईं। १८६६ ई० में वह प्रसिद्ध क़ानून पास हुआ, जिसमें मालिकों की संख्या बढ़ाने का प्रसिद्ध सिद्धान्त सामने रखा गया था। इस क़ानून के अनुसार ख़रीदारों को जायदाद की (जिसमें मकान और सामान भी शामिल था) कुल क़ीमत का ६० फ़ीसदी रुपया सरकार कर्ज़ देती थी। नई भूमि की भी क़ीमत नियत करदी गई, कर्ज़े के चुकाने की शर्तें भी बहुत आसान थीं। पहले पाँच सालों तक सिर्फ़ ३ फ़ीसदी सूद लिया जाता था। इसके बाद जबतक कुल रक़म अदा न हो जाय, मूल-धन के तौर पर २ फ़ीसदी और लिया जाता था। १६०६ ई० के क़ानून के अनुसार सार्वजनिक हित की कम्पनियों को भी कर्ज़ दिया जाने लगा। ये कम्पनियाँ बड़ी-बड़ी जायदादें ख़रीदती थीं और उनके छोटे-छोटे टुकड़े करके काश्तकारों के हाथ फ़रोख्त कर देती थीं। कर्ज़ अदा हो जाने के बाद ये किसान की निजी जायदाद हो जाती थीं। इन्हें बेचने का अधिकार तो था; लेकिन और ज़्यादा बटवारे का हक़ न था। १६१६ के क़ानूनों के

अनुसार सरकार को छोटे-छोटे जोत बनाने के लिए और भी ज़मीनों पर अधिकार मिल गया।

प्रायः सभी देशों में खेती की उन्नति के लिए यह जरूरी समझा जाता है कि किसान स्वयं अपने खेतों का मालिक हो। इसलिए ज़मींदारों से ज़मीनें कम क़ीमत पर प्राप्त करने की कोशिशें की गईं। इंग्लैण्ड और स्काटलैण्ड की तरह जर्मनी-जैसे व्यवसाय-प्रधान देश में भी यह कोशिश की गई कि ज़मीन का मालिक किसान हो जावे। इससे यह स्पष्ट है कि जो मुल्क अपनी खेती की उन्नति चाहते हैं, उन्हें ज़मीन का मालिक किसान को बनाने की नीति पर अमल करना चाहिए अन्यथा किसान की हालत कभी सुधर नहीं सकती।

दूषित भूमि-व्यवस्था खेती की उन्नति में भी बाधक है। उत्तराधिकार का प्रश्न आते ही मुकदमेबाज़ी शुरू हो जाती है। लगान और मालगुजारी का क़ानून इतना सीधा-सादा होना चाहिए कि वकीलों और अदालतों की खर्चीली सहायता के बिना भी उसे समझा जा सके। पटवारी-जैसे सरकारी नौकर को वास्तव में जनता का सेवक होना चाहिए, उसे आजकल जैसा रिश्वतखोर और शरारती नहीं होना चाहिए। हिन्दुस्तान जैसे अशिक्षित और दरिद्र देश में खास तौर पर इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि काश्तकारों को बिना किसी कारण परेशानी और फ़जूल-खर्ची बरदाश्त न करनी पड़े। महकमा-माल में काश्तकार का शिजरा और विरासतकी सूची मौजूद रहनी चाहिए, ताकि उत्तराधिकार का कोई नया प्रश्न उठने पर उससे सहायता ली जा सके। इन्तकाल आराज़ी और उत्तराधिकार के क़ानून इतने सरल, सुबोध और लोगों की भाषा में होने चाहिए, कि साधारण जनता उन्हें स्वयं पढ़ और समझ सके।

देश की आर्थिक पद्धति और किसानों को सहायता

आम तौरपर लोगों का ख़याल है कि कृषि-जन्य पदार्थों के दाम उनकी कुल उपज और माँग पर निर्भर होते हैं। एक चीज़ की पैदावार दुनिया में बहुत हुई; लेकिन उसकी ज़रूरत या माँग कम हुई, तो दाम कम हो जाते हैं। इसके विपरीत यदि पैदावार कम हुई और माँग ज्यादा हुई, तो वह चीज़ महंगी बिकने लगती है। ढुलाई के साधनों का भी मूल्य पर प्रभाव पड़ता है। हिन्दुस्तान से इंग्लैंड जाने वाला अनाज यदि जल्दी, सुरक्षित और कम किराये में पहुँच गया, तो दाम कम होंगे और यदि जहाज़ अच्छे न हुए, किराया बहुत लगा और दिन भी ज्यादा लग गये, तो दाम बढ़ जायेंगे। मूल्य के निर्धारण का यह सिद्धान्त सच है; लेकिन दरअसल कुछ और ताकतें भी हैं, जो मूल्य-निर्धारण पर खूब असर डालती हैं। कुछ साल हुए इङ्गलैंड में कृषि-जन्य पदार्थों की क़ीमतें स्थिर करने के लिए एक कमेटी नियत की गई थी। इसने पदार्थों की क़ीमत निर्धारण करने वाली सब शक्तियों की खूब जाँच की थी। उन अर्थशास्त्री विद्वानों की सम्मतियाँ अलग-अलग उद्धृत न कर यही कहना काफ़ी होगा कि प्रायः सभी विद्वानों ने उस कमेटी के सामने गवाही देते हुए यह बात बड़े ज़ोरों से कही थी कि—"जब देश में मुद्रा ज्यादा हो जाती है, तो वस्तुओं के दाम बढ़ जाते हैं। जब बैंक आफ़ इङ्गलैंड (इङ्गलैंड में यही बैंक नोट वग़ैरह निकालती है) ज्यादा नोट निकाल देती है, तो चीजें मंहगी बिकने लगती हैं और जब वह बहुत से नोट वापस ले लेती है, तो चीजें सस्ती हो जाती हैं। उक्त कमेटी सब गवाहियों पर विचार करने के बाद इस परिणाम पर पहुँची थी कि मुद्रा या सिक्के, नोट आदि की क्रय-शक्ति किसी और

पदार्थों का मूल्य-निर्धारण

शक्ति की अपेक्षा मूल्य-निर्धारण पर अधिक प्रभाव डालती है।"

यह उन विशेषज्ञों की सम्मति है, जिन्होंने कृषि-जन्य पदार्थों के उतार-चढ़ाव की जांच की है। भारतवर्ष के राजनैतिक नेताओं, व्यापारियों, अर्थशास्त्रियों और व्यवसायियों की भी यही राय है। वे एक अरसे से लगातार चिल्ला रहे हैं कि सरकार सिक्के की क़ीमत कृत्रिम रीति से चढ़ाये रखना बन्द कर दे; लेकिन सरकार आज तक अपने उसी इरादे पर दृढ़ है। अनेक प्रान्तीय सरकारों ने भी रुपये की क़ीमत पर कृत्रिम कठोर नियंत्रण के विरुद्ध अपनी सम्मति प्रकट की है; लेकिन केन्द्रीय सरकार की ज़िद अभी तक क़ायम है। १९२६ से १९३० तक के पाँच सालों में सरकार ने प्रचलित सिक्कों में ९९ करोड़ ६७ लाख रुपये की कमी कर दी। जब एक देश की सरकार बाजार में चलते हुए सिक्कों को कम कर देती है, तो स्वभावतः कृषि-जन्य पदार्थों के दाम भी गिर जाते हैं। भारतवर्ष स्वभावतः बहुत बड़ी मात्रा में कच्चा माल बाहर भेजता है। इसलिए विदेशी व्यापारियों का लाभ इसी में है कि कृषि-जन्य पदार्थों की क़ीमतें कम रहें। यह चीज़ प्रचलित सिक्कों की संख्या कम करने से आसानी से हो सकती है। सिक्कों की कमी-बेशी से मूल्य पर कितना भारी असर पड़ता है, इसका अध्ययन करने वाले जानते हैं कि पिछले कुछ सालों में किसानों को बिना उनकी किसी ग़लती के सिर्फ़ इसी एक शरारत की वजह से करोड़ों रुपयों का नुकसान हो गया है। किसी स्वतंत्र देश में किसी सरकार को इतनी आपत्तिजनक कार्रवाही इतने सालों तक जारी रखने की इजाज़त न दी जाती। अभी बहुत साल नहीं गुज़रे, जब कि इङ्गलैंड की सरकार ने अपने देश के लाभ के लिए स्वर्णमान छोड़ दिया था, तब हमारे रुपये को नाजाइज़ तौर पर उसके साथ बाँध दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि

भारत सरकार की मुद्रा-नीति

रुपया बढ़ जाने से कृषि-जन्य पदार्थों की क़ीमतें भी कृत्रिम तौर पर ऊंची हो गईं। भारत का अपनी मुद्रा-नीति पर कोई अधिकार नहीं है और न वह भारतीय हित को सामने रखकर ही नियत की जाती है। भारत के सब व्यापारी एक स्वर से यह माँग पेश कर रहे थे कि मुद्रा व विनिमय पर नियंत्रण के लिए रिज़र्व बैंक खोला जाय; लेकिन सरकार ने उस पर क़तई ध्यान नहीं दिया। जब केन्द्रीय असेम्बली में १६२६ में रिज़र्व बैंक बिल पेश हुआ, तब भी सरकार ने इस बात पर बहुत आग्रह किया था कि बैंक पर असेम्बली का प्रभाव न हो। सरकार ने यह बिल वापस ले लिया और फिर पेश न किया। अब नये विधान के अनुसार १ अप्रैल १६३५ से रिज़र्व बैंक क़ायम किया गया है; लेकिन उस पर असेम्बली के लोक-प्रतिनिधियों का कोई नियंत्रण नहीं रहेगा। गवर्नर-जनरल को यह अधिकार है कि वह अपनी समझ के अनुसार रिज़र्व बैंक के गवर्नर और डिप्टी-गवर्नर को नियुक्त करे या हटाये, डायरेक्टरों के केन्द्रीय बोर्ड को स्थगित करे या उसका दिवाला तक निकाल दे। "फ़ैडरेशन के लिए सिक्का या नोट, विनिमय-दर अथवा रिज़र्व बैंक के विधान व कार्यक्रम के सम्बन्ध में कोई संशोधन या बिल पेश करने के लिए पहले गवर्नर-जनरल की मंजूरी लेना आवश्यक होगा।" इसका परिणाम यह होगा कि बैंकों और कल-कारख़ानों के लिए सारे देश की बैंक संस्थाओं पर सरकार का पूरा कब्ज़ा हो जायगा।

विनिमय-दर का भी प्रश्न कम महत्वपूर्ण नहीं। तमाम दुनिया में सोना विनिमय का माध्यम माना जाता है। शायद ही दुनिया में कोई ऐसा मुल्क हो, जिसमें चलने के लिए और विदेशों के सिक्के तबदील करने के लिए सोने का सिक्का चालू न हो। अगर सोने का सिक्का जारी हो तो उसकी विनिमय-दर कृत्रिम रूप से नियत करने की जरूरत नहीं रहती। हिन्दुस्तान इस मामले में भी बहुत

बदकिस्मत है। भारत सरकार ने कई बार यहाँ सोने का सिक्का जारी करने का वायदा किया; लेकिन कभी स्थायी तौर पर जारी नहीं किया। हमें खूब अच्छी तरह याद है कि एक बार सोने का सिक्का जारी कर वापस ले लिया गया। एक-न-एक बहाने से हिन्दुस्तान को सोने के सिक्के से वंचित रखा जा रहा है और सोने की भी कृत्रिम क़ीमत स्थायी रखने की कोशिश की जाती है। अगर भारत सरकार का इरादा यहाँ सोने का सिक्का चालू करने का नहीं है, तो विनिमय-दर चाँदी के मूल्य पर निर्भर रहना चाहिये, न कि सोने के मूल्य पर; लेकिन मज़ा यह है कि यह भी नहीं किया जाता। रुपये की दर ज्यादा-से-ज्यादा ऊँची रखने की कोशिश की जाती है और इस तरह हिन्दुस्तान के सब साम्पत्तिक स्रोतों को बरबाद किया जा रहा है। सारा देश रुपये की दर १ शि० ४ पेन्स करने के पक्ष में हैं, लेकिन सरकार १ शि० ६ पेन्स की दर रखने पर अड़ी हुई है।

इसका परिणाम यह होता है कि किसानों को जबर्दस्ती अपनी सब चीजें कम दामों पर बेचने के लिए विवश होना पड़ता है। जब इङ्गलैंड ने स्वर्णमान छोड़ दिया, तब रुपये को भी उसके साथ बाँध दिया गया। उसे स्वतंत्र रखने से इङ्गलैंड की चीजें हिन्दुस्तान में आसानी से सस्ते में न आ सकतीं। आज भी इङ्गलैंड के सिक्के पौंड की विनिमय-दर १३≡) है और इसी भाव से इङ्गलैंड की सब चीजें हिन्दुस्तान आती हैं। दूसरी ओर हिन्दुस्तान को इङ्गलैंड से भिन्न विदेशों के सामान की क़ीमत में सोने के एक पौण्ड के बदले में २०) रुपये देने पड़ते हैं। इस तरह भारत को गैरब्रिटिश माल के लिये ६)रु० प्रति पौण्ड जबर्दस्ती ज्यादा देने पड़ते हैं। यदि रुपये को पौण्ड की पूंछ से न बाँध दिया जाता, तो ऐसा न होता। इस तरह हिन्दुस्तान को मजबूर किया जाता है कि गैरब्रिटिश माल के लिए ज्यादा रुपये दे, वरना

ब्रिटेन से माल मंगावे। अगर रुपये को पौण्ड के साथ न बाँध दिया जाता तो यह हालत न होती। इसी तरह इसी विनिमय-दर के कारण कृषि-जन्य पदार्थों की क़ीमत इङ्गलैंड के अलावा दूसरे मुल्कों से कम मिलती है यानी एक पौण्ड के एवज़ में हिन्दुस्तान १३≡) का माल इङ्गलैंड को और बीस रुपये का माल दूसरे देशों को देता है, मिलता दोनों सूरतों में एक पौण्ड है। लेकिन इसके एवज़ में इङ्गलैंड को कम माल जाता है और दूसरे देशों को ज्यादा। इस तरह हमें इङ्गलैंड से ही व्यापार करना पड़ता है, चाहे वह हानिप्रद हो या फ़ायदेमन्द। इस तरह पद-पद पर कृषि-जन्य पदार्थों की क़ीमतों के बारे में हमें कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इसका नतीजा यह होता है कि क़ीमतें बुरी तरह गिरती जाती हैं। सरकार इस कृत्रिम विनिमय-दर को क़ायम रखने के लिए इतनी उत्सुक है कि नये विधान में भी विनिमय-दर के निर्धारण का अधिकार फेडरल असेम्बली को नहीं दिया गया। दूसरे राष्ट्रों ने इस सम्बन्ध में कैसा क़दम उठाया और भारत सरकार ने उसके मुक़ाबले में कैसा, इसका विवेचन हम आगे करेंगे।

कृषिजन्य पदार्थों के मूल्य पर एक और कारण से भी बुरा प्रभाव पड़ता है। सरकार ऊँचे दर पर कर्ज़ लेती है। इस तरह मुल्क का ज्यादातर रुपया सरकारी खज़ाने में चला जाता है। वह न तो नये व्यवसायों में काम आ सकता है और न खेती की उन्नति में इस्तेमाल होता है। कर्ज़ लेते समय ज्यादा सिक्के भी जारी नहीं किये जाते। न यही लिहाज किया जाता है कि फ़सल कटते वक्त जबकि ख़ुद किसान को ज्यादा रुपये की जरूरत होती है, कर्ज़ न लिया जाय। अगर ऐसे खास मौक़े पर चलता हुआ रुपया सरकारी कर्ज़ की सूरत में जमा कर लिया जाय, और इस तरह सूद-दर बढ़ा दी जाय, तो यह स्वाभाविक ही है कि

कृषि-जन्य पदार्थों की क़ीमतें बहुत गिर जावें। इसी तरह सरकार का यह भी फ़र्ज़ है कि फ़सल कटते समय रुपये की तादाद ज्यादा चढ़ादे, जिससे कम रुपया होने की वजह से किसान को कम दाम न मिलें; लेकिन हिन्दुस्तान की सरकार यह ख़याल नहीं करती।

इन आर्थिक प्रश्नों के सिवा तटकर और सरकारी सहायता भी पैदावार के मूल्य की दृष्टि से बहुत अधिक महत्वपूर्ण होती हैं। जब किसी खास चीज़ को देश में पैदा करने की इच्छा हो, तब उत्पादक को ठोस सहायता देने से उसमें जरूर सफलता मिलती है। जर्मनी ने उत्पादकों को भारी सहायता देकर ही चुकन्दर की खेती में सफलता प्राप्त की। हिन्दुस्तान का चीनी-व्यवसाय बाहर की सहायता प्राप्त चीनी के कारण ही नष्ट हुआ। कुछ साल हुए, ब्रिटिश सरकार ने भी इंग्लैण्ड में गन्ने की खेती को प्रोत्साहन देने के लिए किसानों को सहायता दी थी। यह ठीक है कि इंग्लैण्ड अपने जलवायु के कारण पर्याप्त चीनी पैदा करने में समर्थ न होगा; लेकिन फिर भी अँग्रेज आत्म-निर्भर होने के लिए ज्यादा भी खर्च करने को तैयार हैं। ब्रिटिश सरकार ने १९२४ ई० में चीनी सहायता क़ानून बना कर चीनी के प्रत्येक उत्पादक को भारी सहायता देनी शुरू की। १३ सितम्बर १९२४ से १ अक्टूबर १९२८ तक चीनी तैयार करने वाले को ८॥ से १९॥ शिलिंग प्रति हंडरवेट तक, १३ सितम्बर १९२८ से १ अक्टूबर १९३१ तक चीनी उत्पादक को १३ शिलिंग से ६ शि० ५ पैंस तक और ३० सितम्बर १९३१ से १ अक्टूबर १९३४ तक चीनी उत्पादक को ६॥ शि० से ३ शि० तक इस क़ानून के अनुसार सहायता दी गई। भारतीय माप-तोल के हिसाब से पहले ४ साल चीनी उत्पादक को ९) रु० प्रति मन बढ़िया चीनी और ४) रु० घटिया चीनी पर सहायता दी गई। इन शर्तों पर कोई

किसान को सरकारी सहायता

भी हिन्दुस्तानी उत्पादक जावा के कारखानों से अच्छी तरह मुक़ाबला कर सकता था। जापान की सरकार भी इसी तरह अपने देश में चीनी-उत्पादकों को भारी सहायता दे रही है। शुरू में यह सहायता बीज के ख़र्च, खाद के खर्च, खेती के ख़र्च और चीनी तैयार करने के कारख़ानों के ख़र्च पर भी दी गई। इस क़ानून में पीछे से तबदीली हुई। वर्तमान चीनी सहायता क़ानून का सारांश निम्न लिखित है:—

१—जिस शख्स के पास अपना निजी गन्ने का खेत हो और मशीनों से चीनी बनाता हो, सरकार उसे बीज मुफ्त में देगी।

२—गन्ने के खेतों में सिंचाई करने और नालियाँ बनाने के आधे ख़र्च सरकार स्वयं बरदाश्त करेगी और इस सिलसिले में जिन मशीनों व औजारों की जरूरत होगी, वे सरकार स्वयं कर्ज़ पर या मुफ्त देगी। सहायता की कुल रक़म १५००० येन से ज्याद़ा न होगी।

३—सरकार जिसे उचित समझेगी, उसे चीनी की मशीनें व औजार काम के लिए देगी।

विदेशी चीनी के आयात पर भी भारी तट-कर लगाये गये। जहाँ तक हमारा ज्ञान है हिन्दुस्तान के किसान को किसी भी कृषि-जन्य पदार्थ की तैयारी के सिलसिले में कभी कोई सहायता नहीं दी गई। सरकार ने यद्यपि करोड़ों रुपया चीनी पर तट-कर द्वारा प्राप्त किया; लेकिन इस जरूरी व्यवसाय की उन्नति के लिए कभी थोड़ी-सी भी रक़म ख़र्च नहीं की गई।

विदेशी माल पर तट-कर लगा कर भी खेती की बहुत सहायता की जा सकती है। इंग्लैण्ड हमेशा मुक्त-द्वार नीति का पोषक बनने का दावा करता रहा है और हिन्दुस्तान को भी उसने यही पाठ पढ़ाया है। अर्थ-शास्त्र के विद्यार्थी को यह अच्छी

विदेशों में तट-करों से किसान की सहायता

तरह मालूम है कि जब इंग्लैण्ड ने मुक्त-द्वार नीति का समर्थन किया, तबतक वह व्यवसाय-प्रधान देश बन चुका था। उसने अपने उद्योग-धन्धों की जड़ें बहुत मजबूत कर ली थीं। कुछ स्वदेशी भावना और कुछ व्यावसायिक उन्नति के कारण इङ्गलैण्ड किसी भी दूसरे देश से व्यापारिक प्रतिस्पर्धा मजे में कर सकता था। इंग्लैण्ड एक छोटा-सा द्वीप है, उसे अपने जीवन-निर्वाह के लिए भोजन-सामग्री और कारखानों के लिए कच्चे माल की जरूरत थी। दूसरी ओर उसे अपने तैयार माल को बेचना था। इसलिए उसका लाभ इसी में था कि दुनिया को मुक्त व्यापार का उपदेश दे। इंग्लैण्ड ने मुक्त-द्वार को सत्यता और न्याय के नाम पर नहीं अपनाया। यदि उसे मुक्त-द्वार के औचित्य पर अटूट विश्वास होता, तो वह भारतीय माल पर उन दिनों क्यों भारी-भारी तट-कर लगाता ? और आजभी वह क्यों तट-कर नीति का समर्थन कर रहा है ? कारण स्पष्ट है कि इंग्लैण्ड के वस्त्र-व्यवसाय की उन्नति के लिए भारतीय उद्योग-धन्धों को नष्ट करना जरूरी था और आज दूसरे व्यवसाय-प्रधान देशों से, जो पिछले सालों में एक-दम चकाचौंध कर देने वाली तरक्क़ी कर गये हैं, ज़बर्दस्त मुक़ाबला आ पड़ा है। आज फिर इंग्लिस्तान अपनी पुरानी नीति छोड़ कर वाणिज्य-रक्षा के सिद्धान्तको अपना रहा है।

जर्मनी में किसानों की सहायता के लिए तट-कर नीति का बहुत सहारा लिया गया। 'एग्रिकलचरल ट्रिब्यूनल आफ़ इनवैस्टिगेशन' से मालूम होता है कि—१८७६ तक मुक्त-द्वार की नीति का समर्थन करने के बाद जर्मनी ने भी तट-कर नीति को अपना लिया। १८७६ में विदेशी अनाज के आयात पर थोड़े से तट-कर लगाये गये; लेकिन जब इससेभी काम न चला और दाम गिरते ही गये, तब १८८५ में तट-कर बढ़ा दिये गये। १८८७ में तट-करों की दीवार और भी ऊँची करदी गई। तटकर कितने

ज्यादा बढ़ाये गये, यह नीचे की तालिका से मालूम होगा:—

	एक मेट्रिक टन पर मार्कों में तट-कर			
	गेहूँ	देवगन्ड्स*	जौ	जई (Oats)
१-१०-१८७९ से ३०-६-१८८५ तक	१०	१०	५	१०
१-७-१८८५ से २५-११-१८८७ तक	३०	३०	१५	१५
२६-११-१८८७ से ३१-१-१८९२ तक	५०	५०	५०	४०

गेहूँ पर शिलिंगों के हिसाब से प्रति कार्टर (लगभग १४ सेर) पर निम्नलिखित तट-कर था:—

१८७९ में	२ शि० २ पे०
१८८५ में	६ ,, ३॥ पे०
१८८८ में	१० ,, १०॥ पे०
१८९२ में	७ ,, ७॥ पे०

लेकिन १९०६ में तट-कर ११ शि० १० पे० तक बढ़ा दिये गये। उक्त ट्रिब्यूनल ने जर्मनी के तट-करों पर विचार करने के बाद मुक्त कण्ठ से यह स्वीकार किया है कि "इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं कि जर्मनी अपने किसानों को खेती पर रखने में बहुत सफल हुआ। कृषि-अर्थ-शास्त्र के विद्वानों की यह राय है कि इस सिल-सिले में तट-करों से भी खूब सहायता मिली।" फ्राँस में भी यही हुआ। उक्त रिपोर्ट में भी यह बात इन शब्दों में स्वीकार की गई है:—

"फ्राँस के अर्थ-शास्त्रियों की इस राय से मतभेद रखने का कोई कारण नहीं दीखता कि यदि फ्राँसीसी किसान को तबाह

* निकम्मी क़िस्म का गेहूँ (Rye), जिसकी खेती जर्मनी में गेहूँ से तिगुनी होती है।

करने वाली प्रतिस्पर्धा से न बचाया जाता, तो वह इस क़ाबिल न रहता कि सहयोग या विज्ञान से लाभ उठा सके।" फ्राँस के राजनीतिज्ञ डेशनल (Deschannel) ने १८६१ में ठीक ही कहा था—"लोग कहते हैं कि खेती का सच्चा हल चुंगीघर नहीं, साइंस है। हो सकता है, यह सही हो; लेकिन चुंगीघर ही तो विज्ञान के लिए दरवाज़ा खोलता है। विज्ञान की समस्त उन्नति चुंगी पर ही निर्भर करती है।" इससे पाठकों को मालूम हो गया होगा कि इङ्गलैंड, जर्मनी और फ्राँस-जैसे महत्वपूर्ण देशों में भी किसान को बचाने के लिए काफ़ी कोशिशें की गईं। जर्मनी के राजनीतिज्ञों का यह सिद्धान्त है कि अपने देश में जिन चीज़ों की ज़रूरत हो, उन्हें बिना तट-कर के (या बहुत कम कर लगा कर) अपने देश में आने देना चाहिए। वे इस बात का ख़ूब ख़याल रखते हैं कि कोई चीज़ तैयार माल के रूप में उनके देश में बिना भारी तट-कर दिये न पहुँच जावे। वे यह अनुभव करते हैं कि यदि कोई भोजन-सामग्री बाहर से मंगानी पड़े, तो कम-से-कम उसकी तैयारी पर जो कुछ खर्च हुआ हो, वह तो अपने कारीगर या मज़दूर भाइयों की जेब में जावे। वे गेहूँ पर ३ शि० ६ पेंस प्रति हंडरवेट चुंगी लगाते हैं; लेकिन गेहूँ के आटे पर ६ शि० ४ पे० चुंगी लगावेंगे, ताकि विदेशों से आटे की आमदनी पर नियंत्रण किया जा सके। जो लोग यह कहते हैं कि हिन्दुस्तान को अनाज या तिल की बजाय आटा व तेल बाहर भेजना चाहिये, वे शायद यह भूल जाते हैं कि दूसरे विदेश इस ख़तरे से बहुत अधिक सतर्क हैं, वे हिन्दुस्तान के तैयार माल को अपने देश में मंगाकर अपने कारीगरों को भूखा मारना पसन्द नहीं कर सकते।

भारत-जैसे प्राचीन देशों के मुक़ाबले में कनाडा, आस्ट्रेलिया आदि-जो नये-नये आबाद हुए हैं, और जिनके पास खेती के लिए विशाल भूमि पड़ी है, जरूर ही अच्छी और सस्ती

खेती कर सकते हैं। मुक्त-द्वार की नीति पर अमल करने से प्राचीन देश जरूर तबाह हो जायंगे। पाठकों को याद होगा कि कुछ साल पहले कनाडा और आस्ट्रेलिया के गेहूँ हिन्दुस्तान में, यहाँ के गेहूँ से कम क़ीमत पर बिके थे। सरकार ने बहुत देर बाद विदेशी गेहूँ पर तट-कर लगाने का औचित्य स्वीकार किया। यही हाल शक्कर का हुआ। यदि जावा की चीनी पर तट-कर न लगाये जाते तो भारत में चीनी की क़ीमत ४) मन तक गिर जाती और चीनी के कारख़ाने बिलकुल न पनप सकते। चीनी व्यवसाय की उन्नति इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि यदि तट-करों की नीति का ठीक इस्तेमाल किया जाय, तो यहाँ हजारों कारख़ाने जारी हो सकते हैं।

नये बनाम पुराने देश

ऊपर के तमाम विवेचन से पाठक यह जान गये होंगे कि ग़रीब किसान को उसकी मेहनत का मुआवज़ा मिल सके, इसके लिए यह जरूरी है कि उसके हित को लक्ष्य में रख कर आर्थिक नीति का निश्चय किया जाय; लेकिन दुर्भाग्य से भारतीय किसान को इन स्थितियों पर नियंत्रण का कोई अधिकार नहीं है। उसकी ग़रीबी का—उसे कम दाम मिलने का यह भी एक कारण है।

आर्थिक नीति की कसौटी

सब देशों ने यह अनुभव कर लिया है कि जबतक किसान को यह विश्वास न दिलाया जाय कि पैदावार की अच्छी और स्थिर क़ीमतों के रूप में उसे उसकी मेहनत व पूँजी का अच्छा बदला मिल जायगा, तबतक किसान की सहायता करना असंभव है। इसी सचाई को अनुभव करके कुछ देशों की सरकारों ने पैदावार की कुछ ऊँची कृत्रिम क़ीमतें नियत कर दी हैं। वे सारी पैदावार एक नियत मूल्य पर ख़रीद लेती हैं और कम-से-कम एक मूल्य निश्चित कर देती हैं। अपने मुल्क की जरूरत से जो पैदा-

श्रार ज्यादा बच जाती है, वह बाहर भेजी जाती है और इस तरह जो नुक़सान होता है, वह सरकारी ख़ज़ाना बरदाश्त करता है। यह सुन्दर व्यवस्था हिन्दुस्तान के लिए तो अभी स्वप्न है।

इस सारे विवेचन से यह साबित हुआ कि किसान की ख़ुश-हाली बहुत-सी ऐसी कृत्रिम चीजों पर निर्भर है, जिन पर उसका कोई अधिकार नहीं, लेकिन जो उसे बना या बिगाड़ सकती हैं।

: ४ :

साधारण शिक्षा और खेती की वैज्ञानिक शिक्षा

खेती की उन्नति में कृषि शिक्षा और वैज्ञानिक खोज का भी बहुत महत्त्व है; लेकिन बिना जनता में साधारण शिक्षा के प्रचार के कृषि की वैज्ञानिक शिक्षा भी सम्भव नहीं है। शिक्षा एक ऐसी सुदृढ़ नींव है, जिस पर सभी क़िस्म के मकान खड़े किये जा सकते हैं। भारत में शिक्षा की जो दुर्दशा है, वह सब जानते हैं। भारत में साक्षरों का अनु-पात संसार के सभी देशों से नीचा है। १९३१ की जन-संख्या के अनुसार भारत में कुल आबादी का ८ फ़ीसदी भाग साक्षर था। यदि गाँवों की शिक्षा का अनुपात अलग रखा जाता, तो हमें मालूम होता कि इस थोड़ी-सी संख्या में भी अधिकांश हिस्सा शहरियों का है। १० या ज्यादा उमर वालों का ११ फ़ीसदी भाग ब्रिटिश भारत में साक्षर है, जबकि ग्रेट ब्रिटेन में यही अनुपात ९२.५, फ्राँस में ९४, जर्मनी में ९९.७, जापान में ९६ फ़ीसदी और आस्ट्रेलिया में ९८.२ फ़ीसदी है। १९३०-३१ में ब्रिटिश भारत की कुल शिक्षण संस्थाओंकी संख्या २,९२,०९८ थी और इनसंस्थाओं से पढ़ने वालोंकी संख्या १,२६,८९,०८६ थी। इसका अर्थ यह हुआ कि कुल जन-संख्या के १०३६ लोगों के लिए एक शिक्षालय। आश्चर्य की बात है कि १९३५-३६ में शिक्षण संस्थाओं को

सरकार की उदासीनता

संख्या बढ़नेकी बजाय कम होकर २,५४,२११ रह गई; हाँ, विद्यार्थियों की संख्या जरूर बढ़ी। ब्रिटिश भारत में शिक्षणालयों का इस्तेमाल जनता का कुल ४.६७ फ़ीसदी भाग करता था, जबकि ग्रेट ब्रिटेन में यही संख्या १८.८, जापान में १६, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में २३.७ और कनाडा में २४.५ थी। १९३६ में जाकर ब्रिटिश भारत में यह अनुपात ५.०९ फ़ीसदी हो गया। भारत में प्रत्येक २१ के पीछे एक व्यक्ति शिक्षा प्राप्त कर रहा था, जबकि संयुक्तराष्ट्र अमेरिका व कनाडा में प्रति ४ के पीछे एक व्यक्ति शिक्षा प्राप्त कर रहा था। १९३३ में रूस में यही संख्या ६ के पीछे १ थी। सरकार भारत में शिक्षा पर कितना कम खर्च करती है, यह नीचे लिखे तुलनात्मक आँकड़ों से पता चलता है:—

१९३०–३१ में ब्रिटिश भारत में शिक्षार्थियों पर कुल २८-करोड़ ३२ लाख रुपया खर्च किया गया अर्थात् प्रति शिक्षार्थी पर २२.३ रुपया और कुल आबादी के हिसाब से प्रति व्यक्ति १) रुपया। ये दोनों संख्याएँ क्रमशः ग्रेट ब्रिटेन में १७२ और ३२.४, कनाडा में १६६ और ४८ और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में २७५ और ६५ थीं। आर्थिक संकट का कुल्हाड़ा शिक्षा-विभाग पर ही सबसे ज्यादा पड़ा। १९३०–३१में शिक्षा पर भारत में २८,३१,६१,४४६ रुपया व्यय हुआ था; लेकिन १९३२-३३ में यह सिर्फ़ २५,७८,७५,८६८ रह गया। पीछे से खर्च बढ़ाने पर भी पहली संख्या तक नहीं पहुँचा। १९३५-३६ में २७ करोड़ ३२ लाख से अधिक खर्च नहीं हुआ। पिछली जन-संख्या के अनुसार पेशे या दस्तकारी की शिक्षा प्राप्त करने वालों की संख्या ब्रिटिश भारत में सिर्फ़ ६,४६,१०५ थी, जबकि इसी साल जापान-जैसे छोटेसे देश में यह संख्या १५,८६,०६२ थी। स्कूल की पढ़ाई समाप्त करने के बाद वाचनालय और पुस्तकालय आदि के द्वारा भी शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं है। १९३०–३१ में ब्रिटिश भारत में कुल

१७०८ अखबार थे, जिनमें से २२१ दैनिक थे। अखबारों, पत्र-पत्रिकाओं की प्रकाशित कुल संख्या प्रति दस लाख के पीछे १२.६ थी, जबकि यही संख्या संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका में १७२, जापान में १५५ और रूस में १०० थी।

यह सन्तोष की बात है कि अब ब्रिटिश भारत में काँग्रेसी सरकारें शिक्षा के सम्बन्ध में कुछ ज्यादा दिलचस्पी लेने लगी हैं; लेकिन शासन-प्रबन्ध के भारी-भरकम व खर्चीला होने के कारण वे भी पूरा ध्यान नहीं दे सकतीं।

फिर जो थोड़ी-बहुत शिक्षा यहाँ प्रचलित भी है, वह इतनी अधिक दूषित है कि आम लोग शिक्षितों के कार्य-सामर्थ्य पर विश्वास ही नहीं करते। लोगों का यह खयाल-सा बन गया है कि पढ़ा-लिखा आदमी मेहनत कर ही नहीं सकता, वह अच्छा किसान बन ही नहीं सकता है। रोजमर्रा के व्यावहारिक जीवन से यह धारणा और भी पुष्ट हो जाती है। पढ़ा-लिखा हिन्दुस्तानी नौकरी की तलाश करेगा या पहले ही भरे हुए डाक्टरी अथवा वकालत के पेशे में जावेगा। वह और किसी काम के योग्य अपने को पाता ही नहीं।

वर्तमान शिक्षा के दोष

दसवीं श्रेणी तक के स्कूलों में खेती की शिक्षा की कोई व्यवस्था ही नहीं। यदि कहीं है भी तो इतनी दूषित कि वह खेती की ऊँची शिक्षा में किसी काम नहीं आती। कालेज की शिक्षा बहुत छोटे पैमाने पर दी जाती है और वह भी ज्यादातर खोज-सम्बन्धी होती है। कृषि-कालेजों में पढ़े-लिखे विद्यार्थी खेतों में काम करके साधारण किसानों को अपनी योग्यता से प्रभावित नहीं कर सकते। कृषि-कालेजों में भी खेती की ओर खास दिल-चस्पी नहीं पाई जाती। उनमें और साधारण कालेजों में वाता-

वरण भिन्न नहीं मालूम होता। वहाँ दी जाने वाली शिक्षा पर सम्मति देना कठिन है; लेकिन यदि फल से वृक्ष पहचाना जाता है, तो हम बिना किसी संकोच के यह कह सकते हैं कि कृषि-कालेजों की शिक्षा बिलकुल असफल सिद्ध हुई है। यदि इन कालेजों के ग्रेजुएट स्वयं खेतों पर काम नहीं कर सकते, तो इससे बढ़कर उनकी शिक्षा की निन्दा क्या हो सकती है? स्वयं सरकार भी इस शिक्षा की असफलता को स्वीकार करती है। जब कभी कृषि-विभाग में कोई ऊँची जगह खाली होती है, वह इन कालेजों के ग्रेजुएटों को न देकर बाहर से विदेशियों को बुलाती है।

सरकार का खोज सम्बन्धी काम

सरकारी नीति का एक आश्चर्य यह है कि वह ऐसे विदेशी को भारत की कृषि-समस्या का हल ढूँढ़ने के लिए नियत करती है, जो न तो किसान के खेत पर जाकर उससे बात कर सकता है और न उसकी परिस्थितियाँ और आवश्यकताएँ ही समझ सकता है। वह इसकी परवा भी नहीं करता और अपने जो ख़याल बन चुके हैं, उन्हीं को ज़बर्दस्ती अमली जामा पहनाने की कोशिश करता है। यह भी एक प्रधान कारण है कि भारत में खोज सम्बन्धी काम में खास सफलता नहीं हुई।

खेती-सम्बन्धी खोज आदि की वैज्ञानिक पुस्तकें प्रान्तीय भाषाओं में प्राप्त नहीं होतीं। सरकार की ओर से भी जो पुस्तकें, रिपोर्टें और पत्रिकाएँ निकलती हैं, वे सब अँग्रेज़ी में, जिसके अक्षर किसानों के लिए भैंस बराबर होते हैं।

खेती पर भारत में ख़र्च

अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "पंजाब पीज़ैण्टस इन प्रोस्पैरिटी एण्ड इन डैट" में मि० डार्लिंग लिखते हैं—निम्नलिखित तालिकाओं से मालूम होता है कि पश्चिमीय देशों की अपेक्षा यहाँ खेती का ख़र्च बहुत ही कम होता है:—

देश	प्रति १००० व्यक्ति (रुपयों में)	प्रति १००० एकड़ खेती (रुपयों में)
जर्मनी (१९१०)	६४५	७०५
सं० रा० अमेरिका (१९१९-२०)	१०२०	२१०
इंग्लैण्ड (१९२१)	६६०	१३८०
इटली (१९२५-२६)	२५५	१८६०
पंजाब (१९२६-२७)	१३९	९५
ब्रिटिश भारत (१९२४-२५)	३४	३०

इस तरह हमने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि पहले तो भारत में लोगों को ऐसी शिक्षा के मौक़े ही नहीं दिए जाते, जो कृषि-सम्बन्धी शिक्षा का आधार है, और दूसरे किसानों की असली कठिनाइयों को खोज कर के उनका हल करने की कोई कोशिश नहीं की जाती।

: ५ :

सहयोग

को-आपरेटिव सोसाइटी ही ऐसा तरीक़ा है, जिससे ग़रीब आपस में मिलकर अपना सुधार कर सकते हैं; लेकिन दुर्भाग्य से इस देश में यह भी सफल नहीं हुआ। जो-कुछ हुआ है, वह सिर्फ़ कर्ज़ सोसाइटियों के रूप में ही। कुछ प्रान्तों में को-आपरेटिव सोसाइटियाँ १५ से १८ फ़ीसदी सालाना तक का ऊँचा सूद लेती हैं। सरकार की सारी मशीनरी के पीठ पर होते हुए और स्टाम्प, अदालती फ़ीस आदि के बारे में अनेक क़ानूनी सहूलियतें होते हुए भी इन को-आपरेटिव सोसाइटियों को सूद का दर घटाने में

कोआपरेटिव कमेटियों की असफलता

कोई कामयाबी नहीं हुई। इस देश में सबसे बड़ी दिक्कत यह है कि देश-हित में दिलचस्पी लेने वाले शिक्षित भारतीय इस आन्दोलन में शामिल नहीं होते, क्योंकि वे सरकारी अफ़सरों की हाँ-में-हाँ नहीं मिला सकते अतः इन सोसाइटियों का कार्य-संचालन मुख्यतया सरकारी अफ़सरों को ही करना होता है। इसीलिए केन्द्रीय बैंक जाँच कमेटी ने इन सोसाइटियों पर से सरकारी नियन्त्रण को कम करने की सलाह दी थी। कभी-कभी इन को-आपरेटिव सोसाइटियों से यह उमीद की जाती है कि ये सोसाइटियाँ साहूकार को तबाह कर डालेंगी; लेकिन हमारा यह शुरू से विश्वास रहा है कि केवल को-आपरेटिव क्रेडिट सोसाइटियाँ इस देश में बहुत सफल नहीं हो सकतीं। किसान कर्ज़ के लिए कोई अच्छी ज़मानत नहीं दे सकते, क्योंकि न वे ज़मीन के मालिक होते हैं, न बैलों के। इसका परिणाम यह होता है कि इन सोसाइटियों के बहुत से सदस्य भी कुछ सालों बाद साहूकार के शिकंजे में फँस जाते हैं। वास्तविक कर्ज़ा कम होने के बजाय ज्यादा बढ़ जाता है। शायद ही किसी गाँव में ऐसी सोसाइटी होगी, जिसका कोई सदस्य अपने सदस्य-काल में कर्ज़-रहित होगया हो। इसका कारण स्पष्ट है। शाही खेती-कमीशन ने ठीक ही कहा है कि "किसान की कठिनता यह नहीं है कि उसे कर्ज़ नहीं मिलता। उसकी असली मुश्किल यह है कि वह अपना कर्ज़ चुका नहीं सकता।" इसके लिए उसकी कमाने की शक्ति बढ़ानी लाज़मी है। और देशों में, जहाँ ये सोसाइटियाँ बहुत कामयाब हुई हैं, किसान अपनी ज़मीन का मालिक होता है, उसकी ज़मानत पर वह रुपया उधार ले सकता है। फिर इन संस्थाओं के संयोजकों की हलचलें सिर्फ़ कर्ज़ देने तक सीमित नहीं रहतीं। वे किसान की आमदनी बढ़ाने के लिए भी सभी उपाय बरतती हैं। ऐसे कार्यों के लिए बुद्धिमत्ता, दूरदर्शिता, लगन और योग्यता आदि गुणों का संचालकों में

होना जरूरी है। ऐसा काम सिर्फ़ उत्साही सार्वजनिक कार्य-कर्त्ता कर सकते हैं; लेकिन बदकिस्मती से भारत में राजनीतिक मत-भेद के कारण ऐसे कार्यकर्त्ताओं का सहयोग सरकार अवांछनीय समझती रही है।

गाँवों में अक्सर अच्छे किसान को-आपरेटिव सोसाइटियों में शामिल होने की चिन्ता नहीं करते, क्योंकि इस तरह की सम्मिलित व सीमित जिम्मेवारियों में तरह-तरह के खतरे आ पड़ते हैं। दूसरी बात यह भी है कि अच्छे किसानों को को-आपरेटिव सोसाइटियों की अपेक्षा कम सूद पर दूसरे स्थानों से रुपया मिल जाता है और लेन-देन लोगों में प्रकट भी नहीं होने पाता; लेकिन सोसाइटियों में वे अपनी देनदारी को छिपा नहीं सकते। अच्छा किसान यह बरदाश्त नहीं करता। सोसाइटी के साधारण सदस्यों में भी पारस्परिक सहयोग की सच्ची भावना नहीं पाई जाती। वे न सहयोग का मूल सिद्धान्त समझते हैं और न इसकी उन्हें चिन्ता ही रहती है। वे तो सिर्फ़ इतना ही जानते हैं कि यह कर्ज लेने का आसान तरीक़ा है। इससे ज्यादा उनके लिए सोसाइटी का कोई महत्त्व भी नहीं। यदि एक बार किसान सहयोग की सच्ची भावना को समझ जावें, और इसके लाभ उन्हें बताये जावें, तो इसमें सन्देह नहीं कि उनकी आर्थिक स्थिति और मानसिक विचार दोनों में बहुत तरक्की होगी।

सहयोग समितियों के दोष

हम यह पहले भी लिख चुके हैं कि हिन्दुस्तानी किसान खेती से दौलत कमाने और उसके सिलसिले में लाभ-हानि का हिसाब लगाने का आदी नहीं। इसीलिए वह ज्यादा सूद-दर का बोझ भी महसूस नहीं करता। न वह कम सूद-दर के लाभ समझता है। जबतक उसे नफ़ा-नुक्सान का हिसाब करना न सिखाया जायगा, वह इन कमेटियों की झंझटों में पड़ने के लिए भी तैयार

न होगा। खेती के कामों में देरी को बरदाश्त नहीं किया जा सकता। अगर ठीक समय पर रुपया न मिल सके, तो किसान तबाह हो जाता है। ऐसी हालत में यह स्पष्ट है कि ठीक समय पर काफ़ी रुपया मिलने से ही वह इन सोसाइटियों की ओर आकृष्ट हो सकता है; लेकिन बदक़िस्मती से को-आपरेटिव सोसाइटी के सदस्यों के लिए न ज़रूरी रक़म मिलना संभव है और न सरकार की दफ़्तरी कार्रवाई के कारण ठीक समय पर ही रुपया मिल सकता है। इन कारणों से वह इन सोसाइटियों से अलग रहता है। सोसाइटियाँ जिस सख़्ती से रुपया वसूल करती हैं,उससे भी किसान बहुत डरता है। इससे हमारा यह मतलब कभी नहीं कि कर्ज़े बिना किसी गारंटी के दिये जावें। न हमारा यही मतलब है कि कर्ज़े के प्रार्थना-पत्रों पर भली-भाँति विचार न किया जाय; लेकिन जबतक किसान इन सोसाइटियों के असली उद्देश्य को नहीं समझता, तबतक हमें वे कारण अवश्य दूर करने चाहिएं, जिनसे किसान डर कर भागता है। सबसे बड़ी दिक़्क़त तो यह है कि हमने कार्य शुरू ही ग़लत सिरे से किया है। हमने उसकी आमदनी बढ़ाने और उसकी बचत को अच्छे व्यवसाय में सुरक्षित स्थान पर लगाने की तो व्यवस्था की नहीं, उसे कर्ज़ देना शुरू कर दिया है और वह भी सरकारी नियन्त्रण में। यदि आप किसान की जेब में उसकी वर्तमान आमदनी से दो पैसा ज्यादा डाल सकें, तो वह सहयोग या को-आपरेशन का महत्त्व अच्छी तरह समझ लेगा।

अगर हम ऐसी सोसाइटियां क़ायम करें, जो खेती के उन्नत तरीक़ों को चालू करें, उसके माल को अच्छी क़ीमत पर बेचने का इन्तज़ाम करें, और उसे ज़रूरी चीज़ों को सस्ते दामों पर मुहय्या करने का प्रबन्ध करें, तो वह ज़रूर आप पर विश्वास करने लगेगा।

आदर्श सोसाइटियां

तब वह सहयोग के असली मतलब को समझेगा। यह चीज़ें

उस समय तक संभव नहीं है, जब तक इन समितियों के कार्य-कर्त्ता देहाती अर्थ-शास्त्र से पूरे जानकार न हों और खेती व खेती से सम्बन्ध रखने वाले कामों को अच्छी तरह जानते न हों। इन दिशाओं में स्थापित सहयोग समितियों से किसान की आमदनी जरूर बढ़ेगी। फिर उसे यह विश्वास हो जायगा कि ये समितियाँ उसके लिए सचमुच लाभप्रद हैं। दरअसल हमारे सामने तो को-आपरेटिव सोसाइटियों का वह आदर्श है कि ये सोसाइटियाँ तमाम जरायती कामों को अपने हाथ में ले लेंगी और अपने सदस्यों की पैदावार को खुद अपनी निगरानी में बाजारों में फ़रोख्त करने लगेंगी। हम तो यह चाहते हैं कि सारा गाँव ही एक परिवार की तरह हो जावे, जिसमें हर एक आदमी अपना फ़र्ज अच्छी तरह अदा करे और उसकी मेहनत के अनुसार उसे मुआवजा मिल जावे। डेनमार्क में को-आपरेटिव सोसाइटियाँ अपने सदस्य को यहाँ तक सलाह-मशविरा देती हैं कि कौन-सी गाय खरीदना अच्छा होगा और वह कहाँ से कम दामों में मिल सकती है। वह उसकी ओर से सौदा भी करती हैं और यह भी बतलाती हैं कि सबसे अच्छा सस्ता चारा कौन-सा होगा और कहाँ से मिलेगा। उसका दूध भी अच्छे-से-अच्छे दामों पर बेचने की कोशिश करती हैं और उसकी तमाम जरूरतें पूरी करने का इन्तजाम करती हैं। भारतवर्ष में भी इसी तरह की सोसाइटियाँ क़ायम हो सकती हैं; लेकिन जरूरत इस बात की है कि इन सोसाइटियों का संगठन करने वाला कार्यकर्त्ता बहुत ही समझदार, उत्साही और व्यापारिक बुद्धियुक्त होना चाहिये, वह विपरीत परिस्थितियों से कभी न घबरावे। खरीद और फरोख्त सोसाइटी, खेती-सुधार सोसाइटी आदि की हमें सख्त जरूरत है; लेकिन इसके लिए बड़ा भारी परिश्रम, अनथक लगन व समझदारी चाहिये।

लेन-देन का काम करने वाली किसीभी संस्था की—चाहे वह मामूली व्यापारिक बैंक हो या को-आपरेटिव बैंक—सफलता राष्ट्र की बचत पर निर्भर करती है। इसके बिना कोई भी देश आर्थिक उन्नति नहीं कर सकता। आम लोगों की इस बचत को किसी अच्छी विश्वस-नीय जगह रखने या लगाने की व्यवस्था से हिन्दुस्तान के किसान में भी बचत के लिए उत्साह होगा और वह अपनी आमदनी के मुताबिक खर्च करने की कोशिश करेगा, फ़जूल खर्चियों से बचेगा। उसकी जेब में पड़ी हुई बैंक की पासबुक उसमें आत्म-विश्वास और आशा का संचार करेगी। वह अपने धार्मिक या सामा-जिक समारोहों के लिए रुपया जमा करना सीखेगा और साहू-कारों के दरवाजों पर गिड़गिड़ाना छोड़ देगा। किसानों की बचत से चलने वाले सेविंग बैंक उसे कम सूद पर रुपया भी दे सकेंगे। इन किसान-बैंकों और तिजारती बैंकों में व्यापारिक सम्बन्ध देश की समृद्धि में भी सहायक हो सकता है। डाकखानों के सेविंग बैंक यह काम नहीं कर सकते। इसके लिए तो अलग ही किसान-सेविंग बैंक होने चाहिये, भले ही इन बैंकों से उनका व्यापारिक सम्बन्ध हो।

प्रजा की बचत

ऐसी को-आपरेटिव सोसाइटियाँ भी क़ायम की जानी चाहिये, जो किसानों के लिए ज़रूरी बीमा किया करें। बैल की आकस्मिक मृत्यु, सूखा, बाढ़ या कीड़ों से फ़सल की बरबादी वग़ैरह किसानों पर आने वाली आफ़तों के बीमा करने से किसान को बहुत फ़ायदा पहुंचेगा। और देशों में ऐसी बीमा कम्पनियें सफलता से चल रही हैं। यह काम बहुत विशाल है और सरकार को ही इसमें पहल करनी चाहिये। यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि इन बीमा कम्प-नियों का संगठन और इन्तजाम बहुत कम ख़र्चीला हो।

खेती का बीमा

दूसरे देशों की सरकारें को-आपरेटिव सोसाइटियों को तरह-तरह से सहायता पहुँचाती हैं। फ्रांसमें १८९४ में एक क़ानून द्वारा कर्ज़ कमेटियों की स्थापना की इजाज़त दी गई। इसके अगले वर्ष १८९५ में क़ानून बनाया गया कि सब सेविंग्स बैंक अपनी पूँजी का पाँचवाँ हिस्सा और अपनी सारी आमदनी स्थानीय संस्थाओं को सहायता के लिए दें। १८९७ में बैंक आफ़ फ्राँस का पट्टा इस शर्त पर फिर से जारी किया गया, कि किसानों को कर्ज़ देने के लिए यह बैंक ४ करोड़ फ्रैंक सहायता देवे और अपने सालाना नफ़े का भी एक भाग किसानों की मदद के लिए दिया करे। १८९९ ई० में को-आपरेटिव बैंक क़ायम किये गये। १९१० ई० में क़ानून बना कर किसानों को कर्ज़ की और भी सहूलियतें दी गईं, ताकि किसानों को जमीन खरीदने और उसकी उन्नति करने के लिए बहुत कम सूद की दर पर और लम्बी मुद्दतों के लिए रुपया मिल सके। इस तरह फ्राँस में किसानों को कर्ज़ देने का पूरा इन्तजाम है और इस काम में सरकार का भी काफ़ी रुपया लगा हुआ है। स्थानीय को-आपरेटिव बैंकों को सरकार सिर्फ़ २ फ़ीसदी सूद पर कर्ज़ देती है, जब कि वे बैंक अपने सदस्यों को ४ फ़ीसदी सूद पर कर्ज़ देते हैं।

सहयोग समितियों को सरकारी सहायता

लेकिन क्या भारत में भी यह संभव है ? सरकार से तो यह आशा नहीं कि वह काफ़ी रुपया इस काम में खर्च करेगी। वह स्वयं ३ और ४ फ़ीसदी सूद पर रुपया लेती है, किसानों के बैंकों को २ फ़ीसदी पर कहाँ से देगी ? लेकिन वह निजी बैंकों को तो अपने लाभ का कुछ हिस्सा किसान-बैंकों को देनेके लिए बाधितकर सकती है। और भी इसी प्रकार अनेक उपाय किये जा सकते हैं।

: ६ :

मवेशियों की उन्नति

इस देश में मवेशियों की नसल सुधारने का इतिहास भी बहुत दुःखपूर्ण है। इस देश में सबसे पहला काम यह किया गया है कि अच्छी चुनी हुई गौओं को विदेशों से मंगाये गये सांडों से मिलाया गया। यह परीक्षण बहुत पहले शुरू किया गया था और आज तक भी फौजी महकमे में जारी है। शुरू से ही यह नतीजा देखा गया कि पहली सन्तति तो अच्छी होती है, और दूध भी बढ़ जाता है; लेकिन अगली नसल यहाँ की बीमारियों से नहीं बचायी जासकी और इसतरह उनकी आगामी नसल तबाह हो जाती है। मवेशियों की नसल व राष्ट्रीय व्यवसाय दोनों की दृष्टि से इसके हानिकारक होते हुए भी इस प्रथा को महज इसलिए जारी रक्खा जारहा है कि भारी-भारी तनख्वाह पाने वाले लोगों का ख्याल अब तक नहीं बदला जासका। इस तरह हिन्दुस्तान की अच्छी-अच्छी गौएं चुन ली जाती हैं, उन्हें विदेशी साँडों से मिलाया जाता है और वे तबाह हो जाती हैं। इसका परिणाम होता है देश के व्यवसाय की भारी हानि। यदि सरकार के दिल में देश के लिये जरा भी हित-बुद्धि है, तो बिना एक मिनट विलम्ब किये इस प्रथा को बन्द कर देना चाहिये।

हानिप्रद उपाय

दुःख की बात तो यह है कि हमारे देश में सुधार या उन्नति का हर एक काम बड़ी-बड़ी तनख्वाह पाने वाले विदेशी विशेषज्ञों के हाथों में सौंप दिया जाता है। वे न भारत की आबोहवा से वाक़िफ़ होते हैं और न यहाँ की दूसरी परिस्थितियों से। वे इसकी चिन्ता किये बिना ही अपने देश में बरते गये तरीक़ों को यहाँ भी शुरू कर देते हैं। वे

विदेशी विशेषज्ञ

एक-पर-एक परीक्षण करते जाते हैं, चाहे कोई लाभ हो या न हो। वे इस देश के अनुभवी आदमियों से इस सम्बन्ध में कोई सहायता नहीं लेते। इससे शायद उनकी मान-हानि होती है, फिर वे किसान की भाषा भी नहीं जानते और उनका रहन-सहन भी बिलकुल अलग होता है। वे उस देश की, जिसकी सेवा करने यहाँ आये हैं, भाषा तक जानने को कोशिश नहीं करते। हिन्दुस्तान जैसे कृषि-प्रधान देश में पशु-पालन कोई नई चीज़ नहीं। शाही खेती कमीशन की रिपोर्ट में यहां के चरवाहों की प्रशंसा करते हुए लिखा है—"अगर युक्त प्रान्त के पंवार, पंजाब के हरियाना व सहेवाल, सिंध के थारपरकार और सिंधी (कराँची), मध्य भारत के मालवी, गुजरात के कांकरेज, काठियावाड़ के गीर, मध्य प्रान्त के गाओलाओ और मद्रास के ओंगोले नसलों की जाँच की जाय, तो पता लगेगा कि इनकी ख़ूबी का असली कारण पेशेवर चरवाहों की असाधारण अहतियात में हैं।"—यह खोज कृषि-विभाग के स्थापित होने के ७० साल बाद उस समय हुई, जब बदक़िस्मती से ये अनुभवी लोग खतम हो चुके हैं।

पशुओं की नसल में सुधार करने से पहले यह निश्चय कर लेना चाहिये कि हमारा—जनता का—या सरकार का उद्देश्य और नीति क्या है। बदक़िस्मती से इस देश में टैक्स देने वाली जनता अशिक्षित है, वह नहीं जानती कि क्या करना चाहिये। सरकार नई-नई थ्योरियों के चकाचौंध में फंस गई है और विदेशी विशेषज्ञों पर उचित से अधिक विश्वास करती है। वह उन्हें किसी नीति या आदर्श के बारे में कुछ बता ही नहीं सकती। विदेशी विशेषज्ञ भी ऐसे हैं, जो यह कभी मान ही नहीं सकते कि इस देश के पुराने तरीक़ों में भी कोई ख़ूबी है। सरकार यह भी नहीं देखती कि एक विशेषज्ञ ने जो आदर्श अपने सामने रक्खा था

विदेशी थ्योरियों की चकाचौंध

और जो तरीक़ा अपनाया था, उसके उत्तराधिकारी विशेषज्ञ ने उसे जारी भी रक्खा है या नहीं और उस प्रयोग व जांच का सिलसिला क़ायम रक्खा है या नहीं ? हमेशा से यही देखने में आता है कि जहाँ एक अफसर अलग हुआ और उसकी जगह दूसरा आया, एक दम पुराना तरीक़ा ख़तम होगया और बिल्कुल नये असूलों पर नये सिरे से काम शुरू हो गया। इसका परिणाम यह होता है कि खोज की असफलता की जिम्मेवारी कोई अपने सिर नहीं लेता। प्रायः प्रत्येक विशेषज्ञ अपने से पहले विशेषज्ञ की कार्य-नीति की निन्दा करता है, इसका नुक़सान देश को उठाना पड़ता है।

जिस देश में कुछ समय पहले दूध की नदियाँ बहती थीं, उस देश में आज न दूध मिलता है न अच्छे मवेशी। भारतवर्ष जैसे शाकाहारी देश में तो, जहाँ दूध ही सब से अधिक पोषक भोजन है, पशुओं की उपेक्षा बरदाश्त नहीं की जा सकती। आज भारत में अन्य देशों की अपेक्षा दूध की औसत खपत बहुत कम है और बच्चों की मृत्यु-संख्या बहुत ज्यादा। इसका अर्थ यह है कि हम अपनी भावी सन्तति को उचित पोषक भोजन के अभाव से मार रहे हैं। समय-समय पर हमें यह कह कर कोसा जाता है कि हम मवेशियों को ठीक ख़ूराक नहीं देते और उनका भली भाँति पोषण नहीं करते; लेकिन इलज़ाम लगानेवाले यह भूल जाते हैं कि हमारी अपनी हालत क्या है ? हमें स्वयं ही खाने को नहीं मिलता, मवेशियों के चारे के लिए पैसा कहाँ से लावें ? यदि हमारी आमदनी बढ़ जाय, दूध के धन्धे से कुछ अच्छी आय होने लगे, तो सब शिकायतें खुद-ब-खुद दूर हो जावेंगी। हमें दोष देने से पहले सरकारी विदेशी विशेषज्ञ क्या इसका जवाब देंगे कि कृषि-विभाग, जिसे स्थापित हुए ७० साल हो गये, अबतक क्या भावी नीति और आदर्श को

भी तय कर सका है ? क्या उसका आदर्श प्रति व्यक्ति ज्यादा दूध देने वाले मवेशी पैदा करना रहा है या ज्यादा भार खींचने वाले मवेशी पैदा करना या इन दोनों का समन्वय ? अब तक इस विभाग द्वारा स्वीकृत नीति से इस प्रश्न का कोई निश्चित उत्तर नहीं मिलता। कभी एक नीति पर अमल होता है, तो कभी दूसरी नीति पर। काम का यह ढिलमिल तरीक़ा और ग़रीब करदाता के रुपये से यह खेल दरअसल बहुत अफ़सोसनाक है।

हिन्दुओं की धर्म-भावना

विदेशी विशेषज्ञ भारतीय पशुओं की दुर्दशा का एक कारण हिन्दुओं की गौ के प्रति धार्मिक भावना बताते हैं। उनका कहना है कि हिन्दुओं की इस भावना के कारण गौएँ मारी नहीं जातीं, लूली-लँगड़ी कमज़ोर या बूढ़ी गौओं की भारी संख्या चारे का बहुत बड़ा भाग खा जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि अच्छी तन्दुरुस्त गौओं को पर्याप्त भोजन नहीं मिलता और वे कमज़ोर हो जाती हैं। इसलिए वे इसका इलाज दूध देने के अयोग्य गौओं की हत्या बताते हैं; लेकिन विशेषज्ञों का यह काम नहीं है कि वे किसी जातीय भावना के औचित्य या अनौचित्य पर बहस करें। उन्हें तो यह देखना है कि किन हालतों में काम करना है। हर एक जाति के कुछ विश्वास होते हैं। उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। हिन्दुओं की गौ के लिये आदरबुद्धि की उपेक्षा करना खतरनाक होगा। गौ के नाम पर हिन्दू अपना सिर कटा देने को तैयार हैं। इस भावना को मूर्खतापूर्ण कह कर विशेषज्ञ अपनी जिम्मेवारी से बच नहीं सकते। उन्हें हिन्दुओं के देश के लिए इलाज सोचना है और वह इलाज गौहत्या नहीं हो सकता। हिन्दू बूढ़ी गौ को खाना देते समय कभी दिल में संकोच नहीं करता। ऐसी नाकाम गौओं के लिए पिंजरापोल और गौशालाएं बनी हुई हैं। विदेशी विशेषज्ञों के तरीक़े से इस समस्या को नहीं

सुलझाया जा सकता। इसका हल तो एकमात्र चारे की ज्यादा पैदावार और चरागाहों की ज्यादा स्थापना से ही होगा। यह समस्या विदेशी विशेषज्ञों को परेशान कर रही है; लेकिन दरअसल उन्होंने इसे स्वयं ही बना लिया है। प्राचीन भारत में पेशेवर चरवाहे थे। जहाँ आजकल के विशेषज्ञ परेशान हो जाते हैं, वहाँ वे सफल हो जाते थे।

सरकारी कृषि विभाग

पिछले ७० सालों में विशेषज्ञों से पूर्ण सरकार के कृषिविभाग ने क्या किया है? यदि हज़ारों रुपया लगाकर दो-चार मवेशी अच्छे पैदा कर लिये, तो इससे इस विशाल देश की समस्या हल नहीं हो जाती। क्या सरकार के विशेषज्ञों ने इतने विशाल देश में एक भी ऐसा फ़ार्म खोला है, जहाँ से पालने के लिए मवेशी खरीदे जा सकें और मवेशियों की नसल विश्वास-योग्य हो। अगर ७० सालों के दीर्घ काल में एक भी ऐसा फ़ार्म नहीं खोला जा सका, तो आगे के लिए क्या उम्मीद हो सकती है? दरअसल सरकारी विशेषज्ञों की बातें ही निराली होती हैं। एक विशेषज्ञ गौओं का दूध बिलकुल नहीं निकालते थे और न गौओं के दूध की मात्रा रजिस्टर में लिखते थे। आश्चर्य यह है कि यू० पी० कौंसिल में ख़ेती-विभाग के डाइरेक्टर ने उनके इस कार्य का समर्थन किया था। हिसार के फ़ार्म में मुझे यह देखकर बहुत दुःख हुआ कि वहाँ न तो दूध का हिसाब रक्खा जाता था और न भिन्न-भिन्न जानवरों के ख़ानदानी हालात आसानी से मालूम हो सकते थे। ख़ुराक तक ठीक-ठीक नहीं दी जाती थी।

मिलावटी घी-दूध की खुली छुट्टी

मवेशियों की नसल ख़राब होने का एक बड़ा कारण यह है कि सरकार घी-दूध में मिलावट पर रोक लगाने की ज़रा भी फ़िक्र नहीं करती। यूरोपियन देशों की सरकारें दूध-घी की मिलावट पर बड़ी-बड़ी बन्दिशें

लगाती हैं। मिलावट करना वहाँ एक जुर्म समझा जाता है और इसके लिए काफ़ी सजाएं मिलती हैं। दरअसल मिलावटी दूध बाजार से अच्छे दूध को निकाल देता है। शाही खेती कमीशन को यह जान कर आश्चर्य हुआ था कि ब्रिटेन के बड़े शहरों की अपेक्षा भी यहाँ के अनेक शहरों में दूध महंगा बिकता है। ६ आना प्रति सेर (बम्बई का सेर) होते हुए भी बम्बई में शुद्ध दूध बहुत कम मिलता है। ज्यादातर लोग मिलावटी दूध बेचते हैं। प्रायः सभी देशों में लोग दूध-घी में मिलावट करते हैं; लेकिन उन देशों की सरकारें इसके लिए कड़ा दण्ड देती हैं। इटली में मुसोलिनी ने जो कठोर नियम बनाये हैं, उनमें से एक पानी मिला दूध बेचने के लिए जेल, जुरमाना या दुकान-बन्दी की सजा देना भी है। इटली के हर एक शहर में कई दुकानें बन्द कर दी गईं, कई जेल में भेज दिये गये। आज वहाँ मिलावट देखने को नहीं मिलती। फ्रॉस और ब्रिटेन में भी ऐसे नियम बने हुए हैं।

मिलावटी दूध की तरह से मिलावटी घी की भी समस्या बहुत कठिन है। शुद्ध घी के नाम से मिलावटी घी बेचा जाता है। इंग्लैंड में भी नकली घी के आविष्कार के समय यह समस्या पैदा हुई थी। उस समय वहाँ क़ानून बना कर नकली घी को घी के नाम से बेचना जुर्म करार दिया गया था। नकली घी या वनस्पति घी का बनाना तो रोका नहीं जा सकता, ग़रीबों के लिए सस्ता घी मिलना ही चाहिए; लेकिन असली के नाम से नकली घी को बेचना तो धोखा है, इसे तो रोकना ही चाहिए। केन्द्रीय धारा-सभाओं में जनता के प्रतिनिधियों ने बीसियों बार सरकार का ध्यान घी के नाम से बिकने वाले तेल और वनस्पति घी पर पाबन्दी लगाने के लिए खींचा, अखबारों और सभाओं द्वारा भी सरकार से सैकड़ों बार अनुरोध किया

गया; लेकिन सरकार के कान पर जूँ तक नहीं रेंगी।

यह बात नहीं कि हिन्दुस्तान में अच्छे मवेशी कभी थे ही नहीं। बहुत समय से हिन्दुस्तान का किसान नसल की तरक्क़ी पर ख़ास ध्यान देता आया है। पहले ज़माने में हिन्दुस्तान के गाँवों में एक रिवाज़ प्रचलित था कि सबसे बढ़िया साँड गाँव को भेंट कर दिये जाते थे और गलियोंमें छोड़ दिये जाते थे। यह एक धार्मिक कर्त्तव्य माना जाता था; लेकिन किसानों की ग़रीबी, दस्तकारियों की तबाही और ज़मीन पर ज्यादा बोझ आ पड़ने के कारण चरागाहों की भी खेतों में तब्दीली, चरने के लिए जंगलों की पाबन्दी आदि के कारण देश की अच्छी गौएं और भैंसे शहरों में ले जाई जाने लगीं हैं और वहाँ एक बार दूध देना बन्द करने पर कसाइयों के हाथ बेच दी जाती हैं। फ़ौजी महकमा भी बढ़िया गौओं को ख़रीदता है और वहाँ विदेशी साँडों से मिला कर नसल तबाह करदी जाती है। फिर भी आज हिन्दुस्तान में बहुत बड़ी तादाद में अच्छे मवेशी पाये जाते हैं, जिनसे नसल-सुधार का काम अच्छी तरह शुरू किया जा सकता है।

हिन्दुस्तान में पशु-पालन

बीजों का सुधार भी किसान की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें सन्देह नहीं कि सरकारी कृषि-विभाग ने इस दिशा में बहुत-कुछ उल्लेख-योग्य कार्य किया है। बहुत-सी नई बढ़िया-बढ़िया क़िस्में निकाली गई हैं; लेकिन इनसे फ़ायदा बहुत कम उठाया गया है। इसका कारण यह नहीं है कि हिन्दुस्तानी किसान किसी नये परिवर्तन को पसन्द नहीं करता। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि सरकारी विशेषज्ञों ने नये बीजों की खेती करके और उससे अच्छी पैदावार करके किसानों के सामने कोई आदर्श नहीं रखा। दूसरा कारण यह है कि नये बीजों की फ़सल के लिए

अच्छे बीज लोकप्रिय नहीं हुए

बाज़ार का संगठन नहीं किया गया। हिन्दुस्तान के बाज़ार की हालत बहुत ख़राब है। यहाँ बढ़िया और घटिया माल के दामों में बहुत कम अन्तर है। अमेरिकन सरकार माल को विभिन्न श्रेणियों में बाँटने पर बहुत बड़ी रक़म ख़र्च करती है और यही कारण है कि उसका कृषिजन्य पदार्थों का व्यापार लगातार बढ़ रहा है।

कीड़ों व बीमारियों की खोज

खेती के कीड़ों और बीमारियों की खोज पर भी हिन्दुस्तान की सरकार काफ़ी रुपया ख़र्च कर चुकी है; लेकिन अबतक कोई ख़ास फ़ायदा नहीं हुआ। पुरानी बीमारियाँ अभी तक भी पहले की तरह मौजूद हैं और कुछ नयी बीमारियाँ भी पैदा हो गई हैं। इन बीमारियों को रोकने के लए जो तरीक़े हमें विदेशी विशेषज्ञ बताते हैं वे या तो कार्य के योग्य ही नहीं होते या इतने ज्यादा ख़र्चीले होते हैं कि किसान की ताक़त से बाहर होते हैं। खेतों में जो घास-पात पैदा हो जाता है, उसके बारे में भी कोई खोज नहीं की गई है।

: ७ :

यातायात के साधन

अच्छा बाज़ार पाने और माल की निकासी के लिए आने-जाने के साधनों की सहूलियतों का होना ज़रूरी है। जब तक सारे देश में पहुंचने और माल भेजने का सन्तोषजनक इन्तज़ाम न हो, तब तक अच्छा बाज़ार नहीं मिल सकता। संसार के अन्य देशों की अपेक्षा भारत इस दृष्टि से भी बहुत पीछे है। ब्रिटिश

भारत में १६३५-३६ में कच्ची पक्की कुल मिला कर ३,०६,७१७ मील सड़कें थीं। इस में से ८२,२८४ मील पक्की और २,२४,४३३ मील कच्ची थीं। भारत में कुल रेल लाइन ४८,०२१ मील लम्बी है अर्थात् प्रति दस लाख व्यक्तियों के पीछे सिर्फ़ १०८ मील; लेकिन सं०रा० अमेरिका में प्रति दस लाख के पीछे २१३२ मील, इंगलैंड में ४६० मील, जापान में २०६ मील लम्बी लाइन है। इसमें कोई शक नहीं कि पहले की अपेक्षा आजकल यातायात के साधनों में बहुत उन्नति हो चुकी है। हिन्दू या मुस्लिम काल में इतने बड़े पैमाने पर और इतने विशाल प्रदेश में आने जाने की ऐसी सुविधायें न थीं; लेकिन देखना यह है कि ये सहूलियतें हमारे लिये लाभदायक साबित हुई हैं या इन से भी हमारी तकलीफ़ें बढ़ गई हैं। इसमें किसी को शक नहीं कि आजकल एक जगह से दूसरी जगह माल भेजना या रेल की सवारी कर स्वयं यात्रा करना पहले की बनिस्बत बहुत आसान होगया है; लेकिन हमें हिन्दुस्तानी किसान की दृष्टि से इस बात पर विचार कर लेना ज़रूरी है कि इन रेल गाड़ियों ने उनकी आर्थिक स्थिति पर कैसा असर डाला है?

रेलवे से भारत को हानियां

रेलें हिन्दुस्तान के लिये सिर्फ़ लाभदायक साबित नहीं हुईं। इस तस्वीर का एक और पहलू भी है। इन के कारण मुल्क को वह बड़ा भारी बोझ भी उठाना पड़ा है, जो विदेशी रेल कम्पनियों को सहायता और रियायतों के तौर पर दिया गया है। १६३५-३६ तक रेलवे पर ८,७६,५८,८३,००० रु० पूंजी लगी हुई थी और वह प्रायः सारी विदेशी थी। हर साल भारी रक़म इन कम्पनियों को सूद के तौर पर हिन्दुस्तान के ग़रीब कर-दाताओं को देनी पड़ती है, इसकी चर्चा हमारे विषय-क्षेत्र से बाहर की बात है; लेकिन हम यह ज़रूर कहेंगे कि रेलें हिन्दुस्तान को बहुत महंगी पड़ी हैं और आज भी उनके प्रबन्ध, व ऊपरी

देख-रेख में बेहद खर्च किया जाता है। इसलिये हिन्दुस्तान में दूसरे मुल्कों से किराया व भाड़ा भी बहुत ज्यादा लिया जाता है। तमाम मशीनरी और छोटे-छोटे पुर्जे तक इंगलैंड या दूसरे यूरोपियन देशों से काफ़ी ज्यादा क़ीमत पर खरीदे जाते हैं। जब तक रेलवे का इन्तजाम व ऊपरी देख-रेख का भारी खर्च कम नहीं किया जाता, जब तक विदेशी पूँजी को हटा कर देशी पूँजी नहीं लगाई जाती, जब तक कल-पुर्जे हिन्दुस्तान में नहीं बनाये जाते, तब तक रेल के किराये-भाड़े में भी कमी होने की उम्मीद नहीं की जा सकती। हिन्दुस्तान की खानों में लोहा और कोयला भारी परिमाण में मौजूद है, इसलिये भारत-सरकार के लिये यह कोई प्रतिष्ठा की बात नहीं कि आज भी हिन्दुस्तान में मशीनरी बनाने का इन्तज़ाम न हो और इस के लिये विलायत का मुँह ताकना पड़े।

किसान की तबाही

रेलवे के इस खर्चीले इन्तजाम ने हिन्दुस्तान के एक सिरे से दूसरे सिरे तक किसानों पर बहुत बुरा असर डाला है। कृषिजन्य पदार्थों के इधर-उधर ले जाने का खर्च इतना ज्यादा होता है कि जिन्सों की माकूल क़ीमत नहीं उठती। रेल के किराये निश्चित हैं, उन्हें कोई घटा-बढ़ा नहीं सकता। इसलिए माल बाहर भेजने वाले व्यापारी को यह फ़िक्र रहती है कि वह खेतों पर सस्ते से सस्ता माल खरीदे और दूसरी जगह महंगे से महंगा माल बेच कर खूब नफा कमाये। किसान को लाचार होकर अपनी पैदावार कम क़ीमत पर बेचनी पड़ती है। इसके अलावा उसे दूसरे ऐसे मुल्कों से मुक़ाबला भी करना होता है, जो कम क़ीमत पर अपनी पैदावार बेच सकते हैं, क्योंकि एक तो उन देशों में फ़ी एकड़ पैदावार ज्यादा होती है और दूसरे किराये या महसूल पर उन्हें बहुत कम खर्च करना पड़ता है। हिन्दुस्तान के किसी बाज़ार में जाकर हम देखें, तो हमें

मालूम होगा कि सारे बाज़ार में विदेशी वस्तुओं की बाढ़-सी आई हुई है। इसका मुख्य कारण माल लाने की सहूलियत और बाज़ारी कम खर्ची है। आज हिन्दुस्तान सभी देशों का बाज़ार बना हुआ है। सारे देश को सब के लिए सुलभ बना देने का—यातायात के मार्ग बिछा देने का यह खतरा ज़रूर उठाना पड़ता है। इसलिए जहाँ एक मुल्क में यातायात के साधनों का विकास किया जावे, वहाँ उसके साथ ही उसकी व्यावसायिक उन्नति करना भी ज़रूरी है। बिना उद्योग-धन्धों को उन्नत किये केवल रेलों का जाल बिछा देने से देश का कला-कौशल नष्ट हो जाता है। हिन्दुस्तान के मामले में यही हुआ है। रेलों के कारण कुछ शहर जरूर खुशहाल हुए हैं; लेकिन देहातों को तो भारी आर्थिक हानि हुई है। इसमें कोई शक नहीं कि रेलों के कारण किसानों के उस माल को भी बाज़ार मिल गया है, जो पहले बिक नहीं सकता था; लेकिन पैदावार बेचने से एक ओर जहाँ उसे थोड़ा-बहुत लाभ हुआ है, वहाँ उसे दूसरी ओर इससे भी ज्यादा नुक्सान होने लगा है। सब कारीगरों का अब सिर्फ़ ज़मीन ही एकमात्र आसरा रह गया है।

हिन्दुस्तान के व्यापारिक इतिहास पर सरसरी नज़र डालने से यह भली भाँति मालूम हो जायगा कि रेलें हमेशा भारत के लिए हितकर ही साबित नहीं हुईं। १६२६-३०-३१ के सालों में हमने देखा था कि आस्ट्रेलिया और कनाडा का गेहूँ हज़ारों मील से आकर हिन्दुस्तान के बाज़ार में यहाँ के गेहूँ से भी सस्ता बिकता था। इसका कारण यह है कि विदेशोंके जहाज़ हज़ारों मील दूर से ८ आना प्रति मन किराये में यहाँ विदेशी गेहूँ पहुँचाते थे, जब कि हिन्दुस्तान की रेलवे अपने देश में ही लायलपुर से कलकत्ता तक, जो मुश्किल से १००० मील दूरी होगी, १॥) फ़ी मन किराया लेती थी। इसका अर्थ यह हुआ कि हिन्दुस्तानी किसान को आस्ट्रेलिया

रेलवे की हानिकारक नीति

या कनाडा के किसान से तीन-गुना ज्यादा किराया देना पड़ता था। इसी तरह जावा से हिन्दुस्तान के बन्दरगाहों तक चीनी के पहुँचने में सिर्फ ।।) मन लगते हैं; लेकिन बम्बई या कलकत्ते से मेरठ तक उसी चीनी पर रेलों का किराया पिछले दिनों में घटाने पर भी एक रुपये से अधिक देना होता है। आज यह गुप्त भेद सभी को मालूम हो चुका है कि हिन्दुस्तान के बन्दरगाहों पर भेजे जाने वाले माल के लिए रियायती किराया लिया जाता था; लेकिन उसी माल को अपने ही मुल्क में किसी दूसरी जगह भेजने पर रियायत नहीं दी जाती थी। इसका परिणाम यह होता था कि भारत के कल-कारखाने कच्चे माल के लिए तरसते रह जाते थे, जब कि विदेशी कल-कारखाने हिन्दुस्तान के कच्चे माल से अपना माल तैयार कर धड़ा-धड़ हिन्दुस्तान में भेज सकते थे। शाही खेती कमीशन की रिपोर्ट के सूक्ष्म अध्ययन से यह मालूम हो जायगा कि हिन्दुस्तान की रेलें किसानों के हित में नहीं चलाई जातीं। यों तो उक्त कमीशन किसानों की सच्ची शिकायतों के बारे में फूँक-फूँक कर चला है; लेकिन वह उन सचाइयों से इन्कार नहीं कर सका, जिनसे वर्तमान पद्धति की बुराइयाँ प्रकट हो जाती हैं। कमीशन ने यह स्वीकार किया है कि रेलवे जंगलों से किसान के दरवाजे तक लकड़ियों को सस्ता पहुँचाने में कामयाब नहीं हुई। इसका एक दुष्परिणाम यह हुआ है कि उसे ईंधन की जगह गोबर का क़ीमती खाद जलाना पड़ता है और इस तरह खेती को बड़ा भारी नुक़सान पहुँचता है। जो लोग किसानों को गोबर का क़ीमती खाद जलाने के लिए कोसते हैं, उनकी आँखें कमीशन के बयान से जरूर खुल जावेंगी। शाही कमीशन लिखता है कि इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि गोबर का जलाना तब तक नहीं रुक सकता, जब तक कि उसकी जगह उससे भी सस्ता ईंधन न मिल जावे। कमीशन ने आगे यह भी लिखा है कि सिर्फ ५० मील दूर से भी रेलवे के जरिये

ईंधन को लाना सस्ता नहीं पड़ता। चारे के बारे में भी उसकी यही सम्मति है। जब जंगल में बड़े भारी परिमाण में चारा मिल सकता है, तब थोड़े से फ़ासले से भी रेलवे उसे किसान के दरवाजे तक नहीं पहुँचा सकती। यह दरअसल बहुत दुःख की बात है कि रेलवे-सिस्टम के दोष के कारण किसान को इतना भारी नुक़सान उठाना पड़ता है। यह देख कर आश्चर्य होता है कि आबादी के इलाक़ों में ही रेलों का इन्तजाम क्यों किया गया और जंगलों को क्यों छोड़ दिया गया, हालाँकि देश को इससे काफ़ी आमदनी हो सकती थी। संयुक्तप्रान्त के जंगलों से सिर्फ़ आठ आने फ़ी एकड़ की आमदनी सरकार को होती है। अगर इसमें से खर्च घटा दिया जाय, तो शायद ही कुछ बचता हो। यह क्या कम हैरानी की बात है कि विविध जल-वायु के कारण इतने विशाल देश के जंगलों में प्रायः हर एक क़िस्म की लकड़ी मिल जाती है, फिर भी हमें अपने देश की जरूरतों को पूरा करने के लिए विदेशों से लकड़ी मंगानी पड़ती है। अभी कुछ साल पहले तक ख़ुद रेलवे भी अपने लिए स्लीपर विदेशों से मंगाती थी। पैंसिलों और दियासलाइयों के धन्धे विदेशी लकड़ी से ही चलते हैं। इस तरह रेलें न सिर्फ़ भारतीय उद्योग-धन्धों की उन्नति में मदद नहीं करतीं; बल्कि उसके रास्ते में रुकावट डालती हैं। हम यहाँ सिर्फ़ दो-तीन आश्चर्य में डालने वाले उदाहरण देकर बस करेंगे और यह फैसला पाठकों पर छोड़ेंगे कि हमारी सम्मति कहाँ तक ठीक है। रियासत सितारा के लालटेन के एक कारखाने वाले ने इन पंक्तियों के लेखक को बताया था कि वह चार रुपये टन के हिसाब से कोयले की खान पर कोयला खरीदता है; लेकिन कारखाने तक पहुँचते-पहुँचते वह कोयला २६) रुपये टन पड़ जाता है, यानी सिर्फ़ रेल-भाड़ा २२) रुपये टन देना होता है। उन्होंने यह भी बताया कि ओगलवाडी

से बम्बई सिर्फ़ २०० मील है, इतने से फ़ासले पर लालटेनों के एक सन्दूक पर जो खर्च आता है, वह जर्मनी से बम्बई तक आने के किराये से भी चार आना ज्यादा होता है, हालाँ कि जर्मनी और बम्बई में हज़ारों मील का फ़ासला है। ऐसी हालत में देशी उद्योग-धन्धों के लिए विदेशी कल-कारखानों का मुक़ाबला करना असम्भव है। हिन्दुस्तान को तो अपने कच्चे माल व तैयार माल दोनों के लिए बहुत ज्यादा रेल-भाड़े के रूप में देना पड़ता है। इसी रियासत में एक और कारखाना भी है, जो खेती के औजार तैयार करता है। यह भी रेलवे महसूल के बहुत ज्यादा होने की वजह से तरक्क़ी नहीं कर पाता। इसने बहुत दफ़ा अपना मामला रेलवे बोर्ड के सामने रखा; लेकिन बोर्ड ने कोई ध्यान नहीं दिया। केन्द्रीय बैंक जाँच कमेटी को भी यह मानना पड़ा है कि हड्डी और शोरा यद्यपि बहुत बढ़िया खाद हैं; लेकिन फिर भी इनके मुक़ाबले में विदेशी खाद पर रियायत दी जाती है। हिन्दुस्तान के जंगलों में बड़ी भारी तादाद में सड़ी हुई पत्तियाँ मिलती हैं, जो खाद के तौर पर इस्तैमाल हो सकती हैं; लेकिन महज रेलों के भारी महसूल की वजह से वे किसानों तक नहीं पहुँच सकतीं। इसके विपरीत विदेशों की नकली खाद को हज़ारों मील से लाकर रेलें किसानों के घरों तक पहुँचा देती हैं। न्यूयार्क में तो १५० मील तक से दूध आकर बिकता है; लेकिन हिन्दुस्तान में रेल की संतोष-जनक व्यवस्था न होने के कारण पचास मील से भी दूध नहीं आ सकता।

रेलवे विभाग जल्दी खराब होने वाली चीज़ों को भी जल्दी पहुँचाने की जिम्मेवारी नहीं लेता। यह सभी जानते हैं कि व्यापारी को इस बात की गारन्टी कभी नहीं मिलती कि माल कितने दिनों में पहुंच जायेगा। एक व्यापारी को तार द्वारा सूचना मिलती है कि अमुक स्थानपर अमुक वस्तु ऊँचे दामों में बिक रही

है। वह नफ़े के लिये वह चीज ख़रीद कर वहाँ रवाना कर देता है; लेकिन १० या १५ जितने दिनों में वह चीज वहाँ पहुँचती है, उस चीज़ के दाम कम हो जाते हैं और उसे लाभ के बजाय हानि हो जाती है। ऐसी हालत का स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि व्यापारी अनिश्चय के भय से इधर-उधर माल भेजने में संकोच करते हैं। रेलवे के बरख़िलाफ़ शिकायतों के विस्तार में यहाँ हम नहीं जाना चाहते; लेकिन इतना हम जरूर कहना चाहते हैं कि रेलें किसान को जितना लाभ पहुँचा सकती हैं, उतना भी नहीं पहुँचातीं। १६२१ में अमेरिकन किसानों को जितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था, उनकी जाँच करते हुए वहाँ के सरकारी कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में रेलवे द्वारा किसानों को दी जा सकने वाली सहायता का उल्लेख किया है। उसमें लिखा है कि किसानों का कारोबार फिर से ठीक तौर पर चलाने और उनकी ख़ुशहाली के लिए यह निहायत जरूरी है कि रेलें खेती की पैदावार पर किराया-भाड़ा एकदम कम कर दें। इसलिए हम सिफ़ारिश करते हैं कि रेलवे बोर्ड और दूसरी प्रतिनिधि संस्थाओं को इधर खास ध्यान देना चाहिये। इसका अर्थ यह हुआ कि कमीशन की राय में किसान की ख़ुशहाली के लिए महसूल कम करना बहुत जरूरी है; लेकिन हमारा रेलवे बोर्ड ठीक किसानों के संकट के समय भाड़ा बढ़ा देता है, ताकि सरकार का बजट संतुलित रह सके। दोनों की नीतियों में इस मत-भेद की टीका करने की कोई जरूरत नहीं। बिज़िनेसमैन्स कमीशन और एग्रिकलचरल कमीशन की यह सम्मति है कि "माँग के साथ-साथ अगर माल ले जाने का ख़र्च भी बढ़ा दिया जाय, तो इसका परिणाम यह होता है कि ख़र्च हमेशा के लिए बढ़ जाते हैं और लागत भी इस तरह हमेशा घढ़ती जाती है।" लेकिन हमारे रेलवे बोर्ड पर इस दलील का कोई असर नहीं पड़ता। उसका कार्य-क्रम यह है कि पहले ख़र्च बढ़ा

लेना और फिर उसे पूरा करने के लिए किराया-भाड़ा बढ़ा देना। इस तरह यह सिलसिला हमेशा जारी रहता है और देश का व्यापार नष्ट होता चला जाता है। खेती जाँच ट्रिब्यूनल ने भी रेल-भाड़े की कमी के महत्व को स्वीकार करते हुए बेलजियम का उदाहरण पेश किया है, जहाँ छोटी रेलों का एक जाल-सा बिछा हुआ है और सारे माल को इधर से उधर पहुँचा दिया जाता है। हिन्दुस्तान में कुछ सालों से रेलों ने चीनी व्यवसाय को जो थोड़ी-सी सहायता दी है, उसका परिणाम भी काफ़ी सन्तोषजनक हुआ है। यह इस बात का प्रमाण है कि रेलें व्यवसाय की उन्नति में बहुत सहायक हो सकती हैं।

रेलवे का किसी देश के व्यापार-व्यवसाय की उन्नति में कितना भारी भाग है, यही समझ कर सरकार ने नये विधान में रेलवे को जनता के प्रतिनिधियों की असेम्बली के नियंत्रण से बाहर रखा है। रेलवे के प्रबन्ध के लिए सरकार ने एक स्थायी रेलवे बोर्ड बनाया है, जिस पर लोकमत का अधिकार या नियंत्रण न हो सकेगा। इसका साफ अर्थ यह है कि भविष्य में भी हम भारतीय व्यवसाय के हित को मद्देनज़र रखते हुए रेलवे की नीति का निर्धारण न कर सकें। ब्रिटिश सरकार इंग्लैंड के हितों को भारतीय हितों पर तरजीह देती रहेगी और भारतीय व्यवसाय चमक न सकेगा।

रेलवे बनाम नहरें

कभी-कभी यह दलील दी जाती है कि रेलें कभी जहाज़ों का मुक़ाबला नहीं कर सकतीं, क्योंकि रेलवे का चालू खर्च जहाज़ों से बहुत ज़्यादा होता है। यदि यह ठीक है, तो क्या हम पूछ सकते हैं कि तब फिर अँग्रेज़ सरकार ने भारत के जल-मार्ग से चलने वाले व्यापार को; जो उनके आने से पहले ही यहाँ अच्छी हालत में था, क्यों निरुत्साहित करके ख़त्म कर दिया? सर काटन ने एक स्थान पर लिखा

है "मेरा बड़ा सवाल तो यह है कि भारत जो चीज़ चाहता है, वह जलमार्ग के विकास से पूरी हो सकती है। रेलें अब तक बिलकुल असफल हुई हैं। वे कम महसूल पर सामान नहीं ले जा सकतीं। स्टीम बोटों की नहरों पर रेलों से आठवाँ हिस्सा ख़र्च होगा। नहरों से बहुत सस्ते में और जल्दी माल पहुँचाया जा सकता है।" नदियों व नहरों की कमी नहीं है। यदि जहाज़ों से माल ले जाने का खर्च कम होता है, तो जहाज़ी व्यापार को नये वैज्ञानिक आविष्कारों की सहायता से फिर उन्नत करने से किसी को दुःख न होगा। हम जिस बात पर ज़ोर देना चाहते हैं, वह यह है कि रेल हो या न हो, जहाज़ हो या न हो, सरकार का यह फ़र्ज़ है कि वह माल ढोकर ले जाने का सस्ता इन्तजाम करे। यदि सरकार किसानों की कुछ भी मदद करना चाहती है, तो खेती की पैदावार के वितरण का खर्च बहुत कम हो जाना चाहिये।

देहाती इलाक़ों के आन्तरिक भाग के यातायात साधनों के बारे में तो कुछ कहना ही बेकार है। देहातों में न तो पक्की सड़कें हैं और न कच्ची। गाँवों के पुराने रास्ते भी खेतों में शामिल कर लिये गये हैं।

हिन्दुस्तान में प्राकृतिक और कृत्रिम झरनों की कमी नहीं है, जिनसे बहुत कम ख़र्च में बहुत ज्यादा बिजली पैदा की जा सकती है। यदि किसी देश में बिजली बहुत सस्ती तैयार हो, तो उसकी ताक़त से बहुत से कल-कारख़ाने भी कम ख़र्च में चलाये जा सकते हैं। कोयला हिन्दुस्तान के सिर्फ़ एक हिस्से में मिलता है और इसे एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने का खर्च भी बहुत ज्यादा पड़ता है। इसलिए कोयले की सहायता से सस्ती भाफ तैयार नहीं की जा सकती। मिट्टी का तेल भी भारत में नहीं मिलता। बरमा का तेल आता है, तो उस पर अँग्रेज़ी कम्पनी का अधिकार है। वह

बिजली की ताक़त

खूब महंगे दामों तेल बेचती है, इसलिए उससे भी सस्ती शक्ति पैदा करना असंभव है। गाँवों में धन्धों की तरक्की के लिए सस्ती ताक़त को पैदा करना बहुत जरूरी है। बहुत-से स्थानों पर जहाँ न नहर हैं और न कुएं, १०० फीट नीचे से पानी निकालने के लिए भी सस्ती ताक़त का किसानों को मिलना जरूरी है। हिन्दुस्तान में भाग्य से बहुत-सी नदियाँ, नहरें और प्रपात हैं, जिनसे बिजली पैदा की जा सकती है। इस दिशा में सरकार ने बहुत कम काम किया है। पश्चिमी संयुक्तप्राँत में थोड़ा-बहुत काम हाल में जरूर हुआ है; लेकिन अभी वह बहुत थोड़ा है और वहाँ के दर भी अभी ज्यादा हैं। किसान अपनी आमदनी में से इसका भारी बिल आसानी से नहीं चुका सकता।

रूस ने यह सिद्ध कर दिया है कि मुल्क की उन्नति के लिये सबसे पहली जरूरी चीज़ कम खर्च पर बिजली की ताक़त पैदा करना है। उसने महसूस किया कि आजकल के ज़माने में चाहे खेती की उन्नति हो या धन्धों की, दोनों की सफलता का रहस्य इसी में है। रूस में ऐसे स्थान की कमी नहीं है, जहाँ से मिट्टी का तेल निकल सकता हो; लेकिन फिर भी खेती की उन्नति के लिये उसने बिजली की ताक़त पैदा करने पर इतना जोर दिया। यों तो देश की सभी प्रकार की उन्नति के लिये बिजली जरूरी हैं; लेकिन खेती के खयाल से इसकी जरूरत और भी ज्यादा है, क्योंकि खेती के धन्धों में सबसे कम लाभ होता है। खेती की उन्नति सिंचाई और खाद पर निर्भर है। कुँओं से सिंचाई सस्ती ताक़त पर निर्भर है और खाद की समस्या भी उस समय तक आसानी से हल नहीं हो सकती जब तक वायु से कृत्रिम तौर पर नाइट्रोजन प्राप्त न की जावे। शाही खेती कमीशन ने बिल्कुल ठीक लिखा है कि—"यहाँ खाद में नाइट्रोजन की बहुत कमी

खेती के लिये बिजली का उपयोग

है।" हिन्दुस्तान में नकली खाद का प्रचार नहीं हुआ और न इसके तब तक प्रचार होने की उम्मीद है, जब तक कि पैदावार के दाम इतने ज्यादा गिरे हुये रहते हैं। विदेशों में जो तरीक़ा सफल हुआ है, वह यह है कि हवा में बिजली की एक ज़बर्दस्त लहर छोड़ने से नकली खाद पैदा होती है। सस्ती खाद बनाने के लिये भी बिजली की ताक़त का सस्ती होना जरूरी है।

यह बात ख़ास ध्यान देने योग्य है कि १९२२ में जर्मनी में बिजली की ताक़त के इस्तेमाल करने के लिये १४०० देहाती को-आपरेटिव कम्पनियाँ थीं। इससे भी विचित्र हाल डैनमार्क का है, क्योंकि वहाँ सस्ती बिजली पैदा करने के लिये जर्मनी, नार्वे और स्वीडन की तरह न तो कोयला है और न पानी, परन्तु इन कठिनाइयों के बावजूद भी बिजली पैदा करने और आम लोगों तक पहुंचाने के लिये सारे देश में सोसाइटियों का जाल बिछा हुआ है। पचास एकड़ तक के खेतों पर वहाँ जरूर बिजली मिलेगी। डैनमार्क में टेलीफ़ोनों का आम रिवाज है। वहाँ के ज्यादातर किसानों को बिजली, रोशनी और टेलीफ़ोन सुलभ हैं। ये तीनों चीजें खेती के धन्धे के लिये जरूरी हैं। हिन्दुस्तान में टेलीफ़ोन रखना भी बहुत ख़र्चीला है। शहरों में ही जहाँ टेलीफ़ोन काफ़ी संख्या में होते हैं, २००) रु० सालाना ख़र्च होता है। देहातों में इससे कहीं ज्यादा ख़र्च पड़ेगा। जो किसान अपने खेतों में बिजली का प्रयोग करते हैं, उनके लिये भी टेलीफ़ोन का कोई ऐसा इन्तजाम नहीं कि जरूरत के वक्त वे बिजली के ठेकेदार या प्रबन्ध-कर्ता से किसी नुक्स की शिकायत कर सकें।

गांवों के घरेलू धन्धे

शाही खेती कमीशन ने लिखा है कि "जर्मनी, आस्ट्रेलिया और यूरोप के कुछ दूसरे छोटे-छोटे देशों में ग्रामीण धन्धों पर खास ध्यान दिया गया है। हिन्दुस्तान में ज़मीन पर बढ़ते हुये भार को यदि कम करना है तो

लोगों का ध्यान उद्योग-धंधों की ओर खींचना चाहिये।" इस कमीशन ने बहुत-से धन्धों के नाम भी गिनाये हैं। उतने विस्तार में न जाकर हम सरकार व जनता का ध्यान इस ओर खींचना चाहते हैं कि दूध, अनाज और तेल से सम्बन्ध रखने वाले धन्धे बहुत महत्त्वपूर्ण हैं और हर एक गाँव में चालू करने चाहिये। खाद्य पदार्थों के आयात के आँकड़ों पर सरसरी नज़र डालने से ही यह स्पष्ट हो जायगा कि इनका आयात लगातार बढ़ता जा रहा है। हजारों-लाखों मन जौ और जई पैदा करने वाले भारत के लिए क्या यह शर्म की बात नहीं है कि वह 'कुवेकर्स-ओटस,' 'पर्ल बारले' और 'ओट मील' के लिए दूसरे देशों का मुँह ताके? सालाना लाखों मन आलू, चावल, मक्का और दूसरे अनाज पैदा करने वाले मुल्क के लिए क्या यह कम शर्म की बात है कि वह अपने कल-कारखानों के लिए निशास्ता आदि दूसरे देशों से मंगावे? कुछ सालों से फल भी बाहर से आने लगे हैं। इसका एक मात्र कारण यह है कि देहाती व्यवसायों की ओर किसी का ध्यान नहीं जाता। देश के धन्धों की उन्नति के ख़याल से ही नहीं, बल्कि इस ख़याल से भी इधर ध्यान देना जरूरी है कि किसान की आमदनी बढ़े बिना वह कभी सुखी नहीं हो सकता। देहाती व्यवसायों की उन्नति सामान्य व्यवसायों की उन्नति से भिन्न चीज है। देहाती धन्धों में थोड़ी पूँजी; लेकिन अच्छे संगठन और संरक्षण की जरूरत है। इनकी उन्नति से न सिर्फ़ किसान की आर्थिक स्थिति में सुधार होगा; प्रत्युत साथ ही साथ उसका मानसिक दृष्टिकोण भी उदार होगा।

जिस ज़मीन पर और कोई फ़सल पैदा नहीं हो सकती, उस ज़मीन में जंगल लगाना भी बहुत महत्वपूर्ण चीज है। अगर

नये जंगल लगाना

घाटियों, बंजर व रेतीली ज़मीनों में ठीक क़िस्म के वृक्ष लगाये जावें और उनकी देखभाल की जाय,

तो सस्ता ईंधन और चारा बहुतायत से मिल सकता है। यद्यपि प्रकृति ने इस दृष्टि से हमें काफ़ी साधन दिये हैं, लेकिन उनसे फ़ायदा नहीं उठाया जाता। किसान गोबर का क़ीमती खाद जला न डालें, इसलिए उन्हें सस्ता ईंधन देने की सख्त ज़रूरत है और इस ख़याल से जंगलों का बनाना और दरख़्तों का लगाना बहुत उपयोगी सिद्ध होगा। वैज्ञानिकों का कहना है कि जंगलों से दो लाभ और भी होते हैं। एक तो वे बाढ़ों को रोकते हैं और दूसरे सूखा या अनावृष्टि भी नहीं होने देते। यही कारण है कि दूसरे देश इस दिशा में बहुत ध्यान दे रहे हैं। फ्राँस ने पिछली सदी में ३० लाख एकड़ों में नये जंगल लगाये। जर्मनी ने पिछले ५० सालों में १० लाख एकड़ जंगल लगाये। डेनमार्क में ६ लाख एकड़ जंगल है, इसमें से २ लाख एकड़ सिर्फ़ १८७८ से १६०८ तक जंगल बनाये गये हैं। भारत में जंगल बनाने की दिशा में बहुत ही कम काम हो रहा है।

: ८ :

ग़ैर-सरकारी व सरकारी संगठन

आर्थिक संकट के इन दिनों में जनता व सरकार दोनों को मिल कर इस संकट को दूर करने के लिए काम करना चाहिए था; लेकिन यदि जनता की ओर से किसान की तकलीफ़ों की जाँच करने के लिए कोई संगठित प्रयत्न होता है, तो सरकार उसे शक व शुबह की नज़रों से देखती है। देश ने कई बार ज़ोरों से यह मांग पेश की कि सरकार खेती सम्बन्धी

ग़ैर-सरकारी संस्थाओं का अभाव

आँकड़ों का संग्रह कर यह जाँच करे कि क्या खेती के पेशे से कुछ आमदनी भी होती है या किसान लगातार घाटा ही उठा रहा है? क्या खेती की आमदनी से वह लगान व आबपाशी के ख़र्च भी बरदाश्त कर सकता है? लेकिन सरकार लोगों की इस उचित मांग पर भी चुप्पी साधे रही है और वह पुरानी रफ्तार से माल-गुज़ारी व आबपाशी के टैक्स वसूल करती रही है। लगान की छूट के बारे में उसकी दलील यह रही है कि सरकार व किसान के बीच लगान का कोई ठेका नहीं है, इसलिए सरकार को इससे कोई मतलब नहीं है। इसीलिए मालगुज़ारी व लगान में बहुत थोड़ी छूट दी जाती रही है। किसान ने जब कभी लगान व माल-गुज़ारी में कमी करने की आवाज़ उठानी चाही है, सरकार कठोरता से उसे दबाती रही है। यह हमारी बदनसीबी है कि यहाँ किसानों की सेवा करने वाले सार्वजनिक कार्यकर्ताओं को सरकार ख़तरनाक समझती रही है। यदि कभी किसी सार्वजनिक संस्था ने किसानों के सम्बन्ध में कोई आन्दोलन चलाया भी, तो सरकार उसे बाग़ी करार देती रही है और उस संस्था के कार्य-कर्ताओं को जेलों में बन्द करना उसकी नीति रही है। इसका नतीजा यह हुआ कि दूसरे मुल्कों में ग़ैर-सरकारी संस्थाएं किसानों की जो सेवा कर रही हैं, उससे भारत के किसान अबतक वंचित रहे हैं।

खेती की उन्नति के लिए यह निहायत ज़रूरी है कि एक अखिल देशीय किसान सभा हो, जिसकी शाखाएं एक-एक गाँव में फैली हुई हों। कार्य-कर्ताओं की एक ऐसी श्रेणी तैयार हो, जो किसानों की सेवा को अपना फ़र्ज़ समझे और इस सम्बन्ध में सब प्रकार कष्ट-सहन व बलिदान करने को तैयार हो। सिर्फ़ सरकार पर आश्रित रहने से कभी काम न चलेगा। डैनमार्क में शिक्षा और सहयोगसम्बन्धी सारा काम ग़ैर-सरकारी संस्थाओं ने किया है। यह और बात है कि इन संस्थाओं को वहाँ सरकार की

ओर से भी आज सहायता मिलती है; लेकिन शुरूआत में तो जनता
ने स्वयं ही कार्य आरम्भ किया है। इसी तरह जर्मनी में भी को-आप-
रेटिव आन्दोलन को जन्म एक सार्वजनिक कार्य-कर्ता ने दिया था
और काफ़ी समय तक वह ग़ैर-सरकारी तौर पर ही चलता रहा।
यह प्रसन्नता की बात है कि हिन्दुस्तान के परिवर्तित वातावरण में
जनता भी इधर ध्यान देने लगी है और किसान संगठित हो रहे हैं।

दूसरे देशों में जहाँ जनता जागृत है, वहाँ सरकार भी उदासीन
नहीं है। उनमें कौण्टी कौंसिलों व खेती कौंसिलों का जाल-सा बिछा
हुआ है, जिनके द्वारा किसान का संबन्ध
सरकारी संस्थाएं केन्द्रीय संस्था से जुड़ा हुआ है। हर एक देश
की संस्थाओं का आदर्श अपने-अपने देश की परिस्थितियों और
आवश्यकताओं के अनुसार अलग-अलग होता है; लेकिन यह
हमारा दुर्भाग्य है कि भारत की विदेशी केन्द्रीय या प्रान्तीय सर-
कारों का न कोई खेतीसम्बन्धी आदर्श रहा है और न स्थिर
नीति, जिस पर खेती का महकमा अमल करे। कभी सारा काम
केन्द्रीय कर दिया जाता रहा है, तो कभी अलग-अलग क्षेत्रों में
बाँटा जाता रहा है। सरकार के महकमों में आपसी सहयोग का भी
अभाव रहा है। खेती के महकमे पर सरकार बहुत कम खर्च करती
रही है; लेकिन इससे भी दुःख की यह बात है कि जितना ख़र्च किया
गया है, उससे भी पूरा लाभ नहीं उठाया गया। नये विधान के
जारी होने से पहले तक सरकार की यह नीति कोई नहीं समझ सका
कि खेती का महकमा तो भारतीय मंत्री के हाथ में सौंप दिया;
लेकिन नहरों और जंगलों का महकमा सरकार ने अपने हाथ में
रक्खा। भारत-जैसे गरम देश में खेती की उन्नति आबपाशी पर
निर्भर है और जंगलों से मवेशियों को चारा मिलता है। फिर
जब ये महकमे भी हिन्दुस्तानी मंत्री के सुपुर्द न किये जावें, जो
हर हालत में किसानों की ज़रूरतों व कठिनाइयों से ज़्यादा

परिचित होता है, तो फिर किसान की उन्नति की क्या उम्मीद हो सकती है ? इन तीनों महकमों का एक-दूसरे से इतना गहरा सम्बन्ध है कि यह देखकर आश्चर्य होता है कि ये महकमे क्यों अलग-अलग अधिकारियों के सुपुर्द किये गये ?

सरकार की आबपाशी-नीति

हम पहले कहीं लिख चुके हैं कि किसान को नहरी पानी के लिए बहुत ज्यादा क़ीमत चुकानी पड़ती है। नहरों पर जो भारी रक़म लगी हुई है, उसका सूद भी उसे ही चुकाना पड़ता है। हमें महकमा आबपाशी की ऊंची दरों पर भी कोई शिकायत न होती, यदि उसका सारा ध्यान किसान की सहायता करने के बजाय अपनी आमदनी और लाभ दिखाने की ओर न रहता। उसके सामने हमेशा एक ही उद्देश्य रहता है कि चाहे फ़सल को नुक़सान पहुँच जाय; लेकिन उसका पानी बच जावे। जब नहरें बनाई गई थीं, तब किसान को हर प्रकार की सहूलियतें दी जाती थीं; लेकिन जब लोग नहरी पानी के आदी हो गये, तो सरकार ने हर साल उसी नहर में से नई-नई शाखें बनानी शुरू कर दीं ताकि ज्यादा रकबे में पानी पहुँचा कर ज्यादा पैसे वसूल किये जा सकें; लेकिन उन्होंने इससे होने वाले दुष्परिणाम की चिन्ता नहीं की। नदियों में पानी तो एक सीमा में रहता है और उसे बढ़ाना अधिकारियों के बस की बात नहीं है। आबपाशी का क्षेत्र बढ़ाने का अर्थ यह है कि अफ़सरों की राय में नहरों में पानी बहुत है; लेकिन इस बात की कोई अफ़सर गारंटी नहीं दे सकता कि उतना ही पानी हमेशा मिलता रहेगा। जब नदियों में पानी की कुछ कमी होती है, तब सारे सिंचाई-क्षेत्र को नुक़सान होता है। यदि बढ़ाये गये नये सिंचाई-क्षेत्र को उसी हालत में पानी मिलता, जब कि नहरों में काफ़ी ज्यादा पानी आता, तब तो

कोई शिकायत न थी; लेकिन जब वह रकबा भी हमेशा के लिए सिंचाई-क्षेत्र का अंग बन जाता है, तब इसकी हानियाँ उन दिनों साफ़ नज़र आने लगती हैं, जब कि पानी की कमी हो। पानी की कमी होने पर न पहले वाले रकबे को ठीक पानी मिलता है और न पीछे बढ़ाये गये रकबे को। सरकारी विशेषज्ञों व अफ़सरों का कहना है कि नहरों का उद्देश्य फ़सलों की रक्षा करना है—जब बारिश न होती हो तो फ़सलों को तबाह होने से बचाना है, इसलिए जितने ज्यादा-से-ज्यादा रकबे को पानी पहुँच सके, पहुँचाना चाहिये; लेकिन वे इसकी जिम्मेवारी अपने ऊपर नहीं लेते कि फ़सलों को तैयार होने के लिए जितना पानी ज़रूरी हो, उतना पहुँचावें। अगर सरकार की यह स्थिर नीति है, तो नहरों की क़ीमत दुर्भिक्ष के बीमे के सिवा कुछ नहीं है। अगर यह हालत है, तो सरकार को ज़मीन पर मालगुजारी बढ़ा कर आबपाशी का टैक्स लेना छोड़ देना चाहिये; लेकिन हम जानते हैं कि सरकार नहर से सींची जाने वाली ज़मीनों से आबयाने के सिवा मालगुजारी भी ज्यादा वसूल करती है। फिर कुछ समय बाद मालगुजारी और भी बढ़ा देती है। इस तरह नहरी इलाक़े के किसान को बढ़ी हुई मालगुजारी और आबयाना दोनों देने पड़ते हैं। दोहरा टैक्स वसूल करने का सरकार के पास कोई जवाब नहीं। यदि नहरें आबपाशी की सुविधाएँ पहुँचाने के लिए हैं, तो फिर सरकार की यह ज़िम्मेवारी है कि पानी ठीक समय पर और उचित मात्रा में पहुँचावे। ऐसी हालत में यदि पानी की कमी के कारण फ़सल खराब होती है, तो उसकी भरपाई सरकार को करनी चाहिये; लेकिन बीसियों बार हमारा अपना यह बहुत बुरा अनुभव है कि जब सारी फ़सल बिलकुल तबाह हो जाती है, तब भी आबयाने में कोई छूट नहीं की जाती। किसान में इतना साहस ही नहीं है कि वह अफ़सरों तक पहुँच सके। क़ानून के अनुसार भी नुक़सान की

मांग नहीं की जा सकती, इस विषम स्थिति से किसान को बहुत हानि होती है। कभी-कभी पानी महीने में सिर्फ़ एक बार मिलता है, गन्नेजैसी क़ीमती पैदावार भी, जिसमें काफ़ी रुपया लगाना पड़ता है, कभी-कभी महीने में एक बार भी पानी न मिलने से सूख जाती है। कभी-कभी गेहूँ या अन्य फ़सलों को सिर्फ़ एक बार पानी मिलता है और फिर भी आवयाना पूरा-का-पूरा वसूल कर लिया जाता है। सारे देश में एक भी हिस्सा ऐसा नहीं है, जहाँ कि किसान को पानी की कमी से नुक़सान न उठाना पड़ता हो।

पानी के निकास का प्रबन्ध

इस सब के अलावा रेलों और नहरों की वजह से मुल्क के कुदरती पानी के निकास को बहुत नुक़सान पहुँचा है। १९२२ ई० में उत्तरी बंगाल का प्रसिद्ध दुर्भिक्ष रेल की सड़क के कारण पानी रुक जाने से ही हुआ था। अक्सर देहातों में निकास का इन्तजाम न होने से पानी रुक कर बदबू करने लगता है और बीमारियाँ फैलाने लगता है। कुदरती पानी के निकास का प्रबन्ध नहरी महकमे को करना चाहिए; लेकिन नहरी अफ़सर कभी इधर ध्यान नहीं देते। कई इलाक़ों में नहरों ने कुछ जमीनों को खेती के ही अयोग्य बना दिया है।

भारत सरकार व प्रान्तीय सरकारों की कृषि-नीति निश्चित होनी चाहिए। कृषि-नीति का मूलभूत आधार किसान की खुशहाली होनी चाहिए। यह प्रसन्नता की बात है कि प्रान्तीय शासन-विधान के बाद से प्रान्तों की लोकप्रिय पार्टियों के हाथ में प्रान्तों का शासन-सूत्र आ गया है और वे, खास कर काँग्रेसी सरकारें किसानों की ओर पिछली भयंकर उदासीनता को छोड़ कर किसानों के लिए तरह-तरह के क़ानून बनाने लगी हैं। यद्यपि वे अभी तक किसानों के हित के लिए सब उपाय अमल में लाने में

समर्थ नहीं हैं (जैसे कि विनिमय-दर तक को वे बदल नहीं सकतीं); लेकिन फिर भी वे किसानों की उन्नति का प्रयत्न करने में लगी हैं। इससे आशा होती है कि किसानों का भाग्य भी अब पलटने लगा है।

भाग ४—उपाय

: १ :

अप्रत्यक्ष उपाय

"खेती सिर्फ़ फ़सल उठा कर पैसा पैदा करने का नाम नहीं है। न खेती महज़ एक व्यवसाय या व्यापार ही है। यह तो एक आवश्यक सार्वजनिक सेवा है। राष्ट्र के हित के लिए व्यक्ति निजी तौर पर ज़मीन का इस्तेमाल व देख-भाल करके यह सेवा करते हैं। किसान जब अपने जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने या निजी लाभ उठाने के लिए भी खेती करता है, तब भी वह राष्ट्रीय जीवन के मूल आधार की रक्षा ही करता है। खेती पर हमेशा राष्ट्र के हित का स्पष्ट और निर्विवाद रूप से असर पड़ता है। खेती का महत्त्व राष्ट्रीय हित की दृष्टि से बहुत ऊँचा है और राष्ट्र को उसके बारे में दूरदर्शितापूर्ण नीति से खूब सोच-समझ कर चिन्ता करनी चाहिए। यह सिर्फ़ इसलिए नहीं कि देश के प्राकृतिक और मानवीय साधनों की रक्षा करनी है, बल्कि इसलिए भी कि उनके द्वारा राष्ट्र की रक्षा हो, देश की सर्वांग समृद्धि हो और देश की राजनैतिक व सामाजिक योग्यता पैदा हो।"

—बिज़िनैस मैन्स कमीशन पृ० २०

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में नियुक्त कमीशन के विद्वान सदस्यों की ऊपर लिखी सम्मति दरअसल बहुत महत्त्वपूर्ण है। संसार के हर एक देश पर यह सचाई लागू होती है कि किसान के हितों की रक्षा करना प्रत्येक देश की जनता और सरकार का पहला काम है। देश की

देशव्यापी योजना

भूखी जनता की उदर-पूर्ति महज बड़े-बड़े भारी पाण्डित्यपूर्ण या हृदय-स्पर्शी शब्दों से नहीं हो जाती। शानदार वक्तृताओं से किसी खास बात के लिए जोश तो पैदा किया जा सकता है; लेकिन उससे किसानों की जीवनसम्बन्धी शिकायतें दूर नहीं हो सकतीं। उपर्युक्त कमीशन ने ठीक ही कहा है कि "किसानों की बहुत समय से चली आने वाली बीमारी सिर्फ शक्कर लिपटी राजनैतिक गोलियों से दूर नहीं हो सकती।" सैकड़ों देशी विदेशी लेखकों ने हिन्दुस्तानी किसान की करुण कहानी लिखी है, और अब यह निहायत जरूरी है कि उनकी हालत सुधारने के लिए बाक़ायदा एक योजना तैयार की जाय। हम इन पृष्ठों में कुछ उन प्रमुख उपायों का निर्देश करेंगे, जिन से किसान की ज्यादातर शिकायतें दूर हो सकती हैं। सोवियट रूस ने अपने देश की जनता के लाभ के लिए जो योजना बनाई है, उसके गुण-दोषों की आलोचना में न जाते हुए भी इतना हम कह सकते हैं कि उसकी पांचसाला योजना ने सभी लोगों का ध्यान विशेष रूप से अपनी ओर खींच लिया है। सारा-का-सारा राष्ट्र ही एकदम इस योजना को अपनाने के लिए कमर कस कर खड़ा हो गया। प्रत्येक स्त्री, पुरुष और बालक या बूढ़ा उसकी सफलता के लिए सरकार को सहयोग देने के लिए तैयार हो गया। इसका परिणाम भी आश्चर्यकारक हुआ। संसार के प्रायः सभी राजनीतिज्ञों ने शुरू में इस योजना का मजाक उड़ाया था और इसकी असफलता की भविष्यवाणी की थी; लेकिन थोड़े समय बाद ही उन्हें मालूम हो गया कि उनकी भविष्यवाणी झूठी थी। रूसियों ने जो महत्त्वाकाँक्षापूर्ण योजना बनाई थी, उसे पूरा करने में ५ साल भी नहीं लगे। चार सालों में ही वह बड़ी भारी योजना पूरी होगई। इसकी सफलता का मुख्य कारण यह था कि समस्त राष्ट्र ने इस योजना की सफलता को ही अपना लक्ष्य मान लिया था। उसने

पूरी ईमानदारी, श्रद्धा, और लगन के साथ इसे कामयाब बनाने की पूरी कोशिश की। इसलिए जनता को वर्तमान अवनति के गहरे गढ़े से निकालने के लिए सब से पहले जिस चीज़ की ज़रूरत है, वह यह है कि जनता में खुद अपने भाग्य-निर्माण और उन्नति के लिए दृढ़ संकल्प पैदा हो। हमें पूर्ण विश्वास है कि अनेक दोषों, त्रुटियों और कमियों के होते हुए भी यदि किसी निश्चित सुधार-योजना को पूरा करने का जनता दृढ़ संकल्प कर ले, तो खुशहाली का युग जल्दी ही आ सकता है।

भाग्यवाद के विरुद्ध जहाद

बिज़िनैस मैन्स कमीशन ने एक स्थान पर ठीक ही लिखा है कि—"साधारणतः किसान चतुर और बहुत सोच-समझ कर काम करने वाला होता है; लेकिन उसकी खुशहाली ज्यादातर ऐसी शक्तियों पर निर्भर करती है, जो उसके नियंत्रण के बाहर होती हैं, इसलिए उसके दिल पर भाग्यवाद की छाप जम जाती है। और वह अपने पेशे में लापरवाह भी हो जाता है। तक़दीर पर हाथ धरे बैठना या लापरवाही दोनों ही किसी धन्धे की उन्नति के लिए खतरनाक हैं।" (पृ० १११)

भारतीय किसान के लिये तो यह वर्णन और भी ठीक है। इस लिए सब से पहला काम हमें जो करना होगा, वह किसानों में इसी भाग्यवाद और उसके परिणामस्वरूप सुस्ती और लापरवाही के विरुद्ध जहाद है। जब तक उनमें यह खयाल बना हुआ है कि उनकी दुर्दशा का कारण उनकी बदक़िस्मती है, तब तक उन्नति नहीं हो सकती। लगातार पीढ़ियों से आने वाली दुर्दशा के कारण किसानों के दिलों में ऐसा विश्वास घर कर गया है कि सुधार का उपाय जानते हुए उनमें कुछ करने का उत्साह पैदा नहीं होता। इस लिए पहला काम उनमें आशावाद का संचार करना है। हमें उन्हें यह विश्वास दिलाना चाहिये कि

प्रकृति ने उन्हें बहुत साधन और सुविधायें दे रखी हैं। यदि उन्हें शिक्षित भाइयों के असली सहयोग और सहायता का भी आश्वासन दिया जाय, तो इसमें संदेह नहीं कि वे भी आशा और उत्साह से कमर कस कर खड़े हो जायंगे। बस, आधी लड़ाई की जीत यहीं हो गई। हम यह मानते हैं कि यह काम बहुत बड़ा और कठिन है; लेकिन धैर्य, बुद्धिमत्ता और खास तरीक़े से काम करने पर सब कठिनतायें दूर हो जावेंगी। 'असफलता का भय और आत्म-विश्वास की कमी राष्ट्रीय पाप हैं, भाग्यवाद और निराशावाद राष्ट्र के सब से बड़े शत्रु हैं।' हमें उनमें आशा, साहस और उत्साह का संचार करके कहना चाहिये—"उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः।"

पिछला समय नहीं आ सकता

पिछले पृष्ठों को पढ़ने से पाठक शायद समझें कि हम फिर पिछले दिनों को जब हर एक गाँव आत्मनिर्भर और आत्म-सन्तोषी था, वापस लाना चाहते हैं। उन दिनों के तरीक़े अच्छे थे या बुरे, वे भारत के लिये अनुकूल हैं या नहीं, इस चर्चा में गये बिना भी हम यह निःसंकोच कह सकते हैं कि अब पुराना ज़माना फिर वापस नहीं आ सकता। आज १९३९ ई० में उसे फिर वापस लाने का आन्दोलन कोई असली हल नहीं है। आज के वैज्ञानिक युग में लोगों से फिर वही बाबा आदम के तरीक़े इस्तेमाल करने के लिए कहना अक़्लमन्दी नहीं है। आज रहन-सहन का जो ऊंचा पैमाना बन चुका है, उसे फिर से पहले की निचली सतह पर लाना संभव नहीं। आज पुराने जमाने की सादगी लोगों के दिलों को अपील नहीं कर सकती। यह तभी संभव हो सकता है, जब भारतवर्ष इतना अधिक शक्तिशाली हो जाय कि वह समस्त संसार के भी लोकमत को बदल सके। जब हिन्दुस्तान को बाहरी दुनिया के साथ चलना है, तब उसे

पीछे की ओर चलना बन्द करना पड़ेगा। उसकी मुक्ति वर्तमान सभ्य राष्ट्रों के आधुनिक मार्ग पर चलने में ही है।

जनता में संगठन की शक्ति और महत्व का प्रचार करना चाहिये। वर्तमान सभ्यता में सफलता पाने की पहली सीढ़ी संगठन है। हिन्दू शास्त्रों ने भी 'संघे शक्तिः कलौ युगे' कह कर संगठन की शक्ति को मंजूर किया है। हम कितने ही शक्तिशाली क्यों न हों, संगठित संसार से मुकाबला नहीं कर सकते। राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक सभी क्षेत्रों में 'संगठन' हमारा आदर्श होना चाहिये।

संगठन

यदि आज भी हम अकेले रहने या व्यक्तिवाद में विश्वास करते रहेंगे, तो हमारा भविष्य अन्धकारमय होगा।

यह निश्चित है कि भारतवर्ष में केवल खेती का व्यवसाय ३७ करोड़ निवासियों का पेट नहीं भर सकता। जमीन पर पहले ही इतना भार है कि अब उसे वह कुछ दिन और भी बरदाश्त नहीं कर सकती। इस का यह अर्थ नहीं है कि हमारी धरती की उपज हमारे देश-वासियों को भोजन नहीं दे सकती। प्रत्युत भारत भूमि ७० करोड़ प्राणियों की उदरपूर्ति कर सकती है, इसमें सन्देह नहीं; लेकिन आज के अन्तर्राष्ट्रीय युग में कच्चे माल का निर्यात भी तो आवश्यक है। जबतक भारतवर्ष को सैकड़ों तरह के माल के लिए विदेशों पर निर्भर रहना है, तबतक उसे आयात के बदले में अपने कच्चे माल का निर्यात करना ही होगा। वह संसार से अपने को अलग कर ही नहीं सकता। फिर जबतक विदेशों से कच्चे माल की माँग आती है, और अच्छा मूल्य मिलता है, तबतक कच्चा माल वहाँ जायगा ही, चाहे उसके कारण यहाँ के ग़रीब भारतीयों को भूखा ही रहना पड़े। इसके लिए जरूरी है कि यहाँ के ग़रीब किसानों की क्रय-शक्ति बढ़ाई जाय और वे अपनी दयनीय आर्थिक

स्वदेशी का व्रत

स्थिति के कारण अपने आप भूखे रह कर अपनी फ़सल बेचने को बाधित न हों। उद्योग-धन्धों की उन्नति के बिना क्रयशक्ति नहीं बढ़ सकती। इसका इलाज यह है कि खेती पर गुज़ारा करने वाली भारी संख्या में से एक बड़े हिस्से को दूसरे धन्धों की ओर लगाया जाय। बिज़िनैस मैन्स कमीशन की रिपोर्ट में लिखा है कि वैज्ञानिक खेती से पैदावार बढ़ने का परिणाम सदा किसान का फ़ायदा नहीं होता, उसे तो बहुत दफ़ा नुक़सान भी उठाना पड़ता है। यही कारण है कि खेती में वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग इतने धीरे-धीरे बढ़ रहा है। इसके बाद कमीशन इस नतीजे पर पहुँचा है कि किसान की आमदनी बढ़ाने का एकमात्र तरीक़ा ज़मीन पर गुज़ारा करने वालों की संख्या घटाना है। यह उस देश के प्रामाणिक विद्वानों की सम्मति है; जहाँ सिर्फ़ २५ फ़ीसदी जनता खेती पर गुजारा करती है, भारत में तो, जहाँ ७० फ़ीसदी जनता खेती पर निर्वाह करती है, यह दलील और भी ज़ोरों के साथ लागू होती है। इसलिए हमें अपनी काफ़ी बड़ी तादाद खेती से हटा कर दूसरे धन्धों में लगानी पड़ेगी। १८८० ई० में दुर्भिक्ष-कमीशन ने भी अकाल के भयंकर परिणामों पर विचार करने के बाद यह राय दी थी कि "इसका मुकम्मल हल खेतीके अलावा और ऐसे धन्धों की तरक़्की पर है, जिन पर अतिवर्षा, अनावृष्टि आदि प्राकृतिक विपत्तियों का बहुत कम असर पड़ता है।" यह सम्मति आज से ६० साल पहले दी गई थी, जबकि ५८ फ़ीसदी आबादी खेती पर गुजारा करती थी। आज तो, जबकि ७२ फ़ीसदी जनता खेती पर निर्वाह करती है, यह सचाई और भी आदरणीय है।

देश में उद्योग-धन्धों की तरक़्की यद्यपि आसान नहीं है, तथापि असम्भव भी नहीं है। यदि पूँजीपतियों को यह विश्वास दिलाया जा सके कि उनकी पूँजी से काफ़ी आमदनी मिल सकेगी तो कारख़ाने चलाने के लिए शीघ्र ही धन संचय हो सकता है।

सरकारी कागजों और सेविंग बैंकों में काफी रुपया पड़ा हुआ है। यदि सरकार कारखानों की सहायता का वचन दे तो एकदम हमारा सारा कच्चा माल मूल्यवान वस्तुओं में परिणित हो सकता है। जापान ने थोड़े ही वरसों में सरकारी सहायता से अपने उद्योग-धन्धों की तरक्की की है। फिर पूँजीपति भी रुपया लगाने को तैयार हो जावेंगे। यदि उन्हें यह विश्वास हो जावे कि उनका माल चाहे विदेशी माल से थोड़ा-सा महँगा भी हो, बिक जावेगा। इसके लिए देश में स्वदेशी की भावना पैदा करनी होगी।

यदि हम ३५ करोड़ भारतीय एक बार स्वदेशी-व्रत का दृढ़ संकल्प कर लें, तो फिर न हमें सरकारी सहायता की अपेक्षा करनी होगी और न विदेशी माल के मुक़ाबले का डर। हिन्दुस्तान का आन्तरिक व्यापार विदेशी व्यापार से ११ गुना है। इतने बड़े बाजार के होते हुए यदि हमारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बन्द भी हो जाय, तो खास चिन्ता की बात नहीं। सिर्फ़ जरूरत है, दृढ़ संकल्प की। चाहे स्वदेशी माल कुछ घटिया भी हो, महँगा भी हो, तो भी स्वदेशी माल लेने की दृढ़ भावना से हमारे देश की आर्थिक समस्या हल हो सकती है। 'स्वदेशी खरीदो' यह हमारा मूल मंत्र होना चाहिए। हम सदियों से गुलाम हैं और संगठन, आत्म-विश्वास और दृढ़ संकल्प के बल को भूल चुके हैं। संसार में कोई ऐसी शक्ति नहीं, जो ३५ करोड़ भारतीयों के दृढ़ संकल्प का मुक़ाबला कर सके।

महात्मा गान्धी ने चरखे और खद्दर का नया आर्थिक आन्दोलन जारी किया है। इस धन्धे के कारण आज लाखों प्राणियों का उदर निर्वाह हो रहा है। चरखा संघ की १९३७ की रिपोर्ट से मालूम होता है कि चरखा संघ के बुनकरों और कत्तिनों की संख्या क्रमशः १३५९८ और १७७१९६ थी। इसके अलावा, धोबियों, रंगरेजों आदि की संख्या भी हज़ारों में

घरेलू धन्धे

है। इसी तरह यदि और धन्धों की तरफ़ ध्यान दिया जाय, तो लाखों करोड़ों आदमियों को रोज़गार मिल सकता है। और इसका परिणाम यह होगा कि ज़मीन पर किसानों में प्रतिस्पर्धा कम हो जायगी, लगान कम हो जायगा, कृषिजन्य पदार्थों के दाम बढ़ जावेंगे तथा किसान खुशहाल हो जायगा।

कभी-कभी स्वदेशी व्यवसाय के प्रोत्साहन के विरुद्ध यह दलील दी जाती है कि यदि हम विदेशों से तैयार माल न मंगावेंगे, तो उसके बदले में वे भी हमारे देश से कच्चा माल मंगाना बन्द कर देंगे। इसका परिणाम यह होगा कि किसानों के माल की माँग कम होगी और उन्हें कम पैसा मिलेगा; लेकिन दरअसल इस दलील में कोई वज़न नहीं है। पहली बात तो यह है कि विदेशी व्यापार के आँकड़ों से यह स्पष्ट है कि यह ज़रूरी नहीं है कि जो देश जितना अधिक माल भेजता है, उतना ही अधिक माल हमारे यहाँ से मंगाता है। इंग्लैंड कपड़ा ज़्यादा भेजता है, लेकिन रूई कम मंगाता है। दूसरी बात यह है कि कच्चे माल के बाज़ार में यदि भारत अन्य देशों से मूल्य और पदार्थ की उत्तमता में मुक़ाबला कर सकता है, तो विदेशों में भारतीय कच्चा माल खपेगा ही, चाहे हम उनसे उतनी मात्रा में पक्का माल मंगाते हों, या न मंगाते हों। इसके विपरीत यदि हमारे कच्चे माल का दाम ज़्यादा और माल घटिया है, तो विदेश हमारा माल नहीं खरीदेंगे, फिर भले ही हम उनसे कितनी भारी तादाद में पक्का माल मंगाते हों। तीसरी बात यह है कि हम यदि यह फ़र्ज़ भी करलें कि विदेशों में कच्चा माल जाना बन्द हो जायगा, तो इससे हमें कोई हानि नहीं होगी। हम अपने कच्चे माल से अपने ही देश में तैयार माल करके विदेशों में भेजेंगे और कुछ समय बाद उन देशों से अच्छी तरह मुक़ाबला कर सकेंगे, जिन्हें कच्चे माल के लिए विदेशों का मुँह ताकना

निर्यात में कमी का भय

पड़ता है। इस बारे में डैनमार्क का इतिहास हमारी आँखें खोल देगा। वह पहले कच्चा माल बाहर भेजता था; लेकिन जब से उसने खुद माल तैयार करना शुरू किया, तो दो-एक साल तक उसका निर्यात गिरने के बाद तैयार माल का बाहर जाना पहले की बेनिस्बत बहुत बढ़ गया।

हमारे राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की सब से पहली और सब से मुख्य समस्या करोड़ों जनता में, जिनमें ज्यादातर किसान हैं, शिक्षा का प्रचार है। टर्की और रूस ने पुनर्निर्माण करते हुए सब से पहला जो काम किया, वह था निरक्षरता और जहालत के विरुद्ध जहाद। दोनों देशों ने यह उद्देश्य बना लिया कि एक भी तुर्क और रूसी अशिक्षित न रहे। इसका फल भी चमत्कारपूर्ण हुआ। आज दोनों देश कुछ ही अरसे में एक सदी आगे बढ़ गये हैं। अब प्रान्तीय सरकारों का ध्यान अशिक्षा—निवारण की ओर जा रहा है, यह प्रसन्नता का विषय है; लेकिन सिर्फ़ सरकार के भरोसे ही हमें न बैठ जाना चाहिये। बहुत-से सार्वजनिक कार्यकर्ताओं को शिक्षा-प्रचार अपने जीवन का उद्देश्य बना लेना चाहिये। एक बार जहाँ लोगों में पढ़ने की रुचि पैदा हो गई, वहाँ फिर शान्त नहीं हो सकती। प्रत्येक धर्मशाला, प्रत्येक मन्दिर और प्रत्येक मस्जिद और चर्च शिक्षा के मन्दिरों के रूप में बदल दिये जाने चाहिये। राष्ट्र के चेहरे पर से अशिक्षारूपी कलंक को धोने के बाद ही हम दूसरी दिशाओं में भी कुछ उन्नति कर सकेंगे। प्राथमिक अनिवार्य शिक्षा आज हमारे राष्ट्र की सब से बड़ी जरूरत है और इसे पूरा करने के लिये हमें सब ओर से अशिक्षा-रूपी पिशाच पर एक साथ मिल कर आक्रमण करना चाहिये।

शिक्षा का प्रचार

: २ :

प्रत्यक्ष उपाय

गरीबी का सवाल

भारतवर्ष की गरीबी की समस्या दरअसल पेट का सवाल है। हिन्दुस्तानी गरीब को खाने को भी नहीं मिलता। यही कारण है कि वह अच्छा खाने वाले यूरोपियन मजदूर की तरह पूरी ताक़त और योग्यता से काम नहीं कर सकता। गरीबी के सवाल को हल करना चाहिये, और जल्दी ही करना चाहिये। इसमें देर की ज़रा भी गुंजायश नहीं है। सरकारी अफ़सर, देशभक्त कार्यकर्ता और प्रत्येक सुधारक, मतलब यह कि प्रत्येक ऐसे मनुष्य की सारी ताक़त इसी सवाल को हल करने में लग जानी चाहिये, जो सोचने के लिये दिमाग़, अनुभव करने के लिये हृदय और काम करने के लिये हाथ रखता है। यदि हम मानव सम्पत्ति की भी रक्षा न कर सके, तो हमारा आन्दोलन, हमारे धुंआधार भाषण, नये-नये पाण्डित्यपूर्ण सिद्धान्त, योजना और नई खोज आखिर किस काम की है? इस लिये हमें कमर कस कर खड़े हो जाना चाहिये और समय रहते इस सवाल को हल कर लेना चाहिये।

करें कैसे?

लेकिन सब से बड़ा सवाल तो यह है कि यह करें कैसे? दान और चन्दों से यह काम नहीं चल सकता, क्योंकि दान की मात्रा कितनी भी ज्यादा क्यों न हो; उससे करोड़ों लोगों का पेट नहीं भर सकता। इसलिए इसका असली हल यही हो सकता है कि किसानों से ठीक क़िस्म का भोजन ज्यादा मात्रा में पैदा करावें और इस बात का इन्तज़ाम करावें कि उन्हें खाने के लिए भी काफी बच जावे और भाव भी न गिरे।

इसमें जो सब से बड़ी आधार-भूत कठिनता है, और जिसका

हम पहले भी जिक्र कर चुके हैं, वह यह है कि पिछले ज़माने में जो किसान खेती को स्वतंत्र जीवन व्यतीत करने की एक पद्धति मानता था, आज वही किसान परिस्थितियों से विवश होकर खेती को एक व्यापार के तौर पर करता है। एक पेशे को व्यापारिक दृष्टि से सफल बनाने के लिए एक दूसरी ही मनोवृत्ति और दूसरी ही योग्यता चाहिए। इसलिए हमें कोई ऐसी सूरत निकालनी चाहिए कि चतुर और व्यापारियों का सा हानि-लाभ का हिसाब लगाने वाला दिमाग़ खेतों पर मेहनत व मशक्कत करने वालों के साथ शामिल हो जावे। हम पहले देख चुके हैं कि हिन्दुस्तान का किसान पैदा करने वाला, बेचने वाला, मज़दूर और पूँजीपति सभी कुछ एकसाथ है। एक अशिक्षित किसान से यह आशा करना कि उसने इन सभी के गुण बिना कुछ पढ़े सीखे होंगे, असम्भव की आशा करना है। जब यह बात हमने मान ली, तब फिर ज़रूरत इस बात की है कि व्यापारिक बुद्धि रखने वाले को किसान से मिला दिया जाय। दोनों को एक-दूसरे के साथ मिला देना चाहिए ताकि दोनों एक-दूसरे की कमी पूरी कर सकें। जब कभी किसान अपना माल दलाल के ज़रिये से बेचता है, तो दलाल इससे अनुचित लाभ उठाता है। यदि किसान का काम केवल माल पैदा करना रहे और उसके माल की बिक्री का कार्य उसके हित की दृष्टि से कोई और करे तो यह आपत्ति दूर हो सकती है।

कहा जाता है कि रूस ने इस समस्या को हल कर लिया है। इस के लिये वहाँ तमाम ज़मीन सरकार ने अपने हाथ में ले ली है।

रूस का हल ठीक नहीं

वहां सरकार हर एक मनुष्य को काम देती है और खाने-पहिनने की ज़रूरतें भी पूरा करती है। यद्यपि समाजवाद का यह विचार बहुत आकर्षक है तथापि यह समस्या का सच्चा हल नहीं है। सब से पहली बात तो यह है कि तुम ऐसा करनेका ग़रीब किसान से वही पेशा छीन लेना

चाहते हो, जिस की हालत तुम सुधारना चाहते हो और गरीब को राज्य के अफसरों की दया पर छोड़ देना चाहते हो। रूसी पद्धति का आधारभूत सिद्धान्त यह है कि थोड़े-से गिने-गिने ऊंचे अफसर सारे राष्ट्र के लिये काम करते और सोचते हैं। इस पद्धति में सब से बड़ा दोष यह है कि व्यक्ति अपने किसी काम में स्वतन्त्र नहीं रहता। इस में एक मनुष्य को दूसरे का औजार-सा बना दिया जाता है। हिन्दुस्तान जैसे देश में इतने विस्तृत अधिकार अफसरों के हाथ में सौंप देने को कोई राजी न होगा।

मानव प्राणी को मशीन-सा बना देने का, दूसरों की इच्छा के आधीन काम करने का विचार ही हिन्दुस्तानी बरदाश्त नहीं कर सकते। भारतीय विचार-धारा के अनुसार परमात्मा ने हर एक मनुष्य को कार्य करने में स्वतन्त्र बनाया है। इस लिये रूस की पद्धति भारत में सफल नहीं हो सकती और न हमें पसन्द ही आ सकती है। इस के अलावा भी यदि हम रूस का इतिहास पढ़ें तो हमें मालूम होगा कि उसे भी अपना यह विचार छोड़ना पड़ा और लाचार होकर किसानों को कुछ जमीन पर अपनी मरज़ी के मुताबिक़ बीज बोने की आज़ादी देनी पड़ी। यह ठीक है कि उस पर सरकार की आम देख-रेख व निरीक्षण ज़रूर रहा।

इस तरह हम यह कभी नहीं मान सकते कि अपने स्वतंत्र पेशे के कारण एक समय समाज में किसान की जो इज्ज़त थी, उससे वह वंचित कर दिया जावे; लेकिन इसके साथ ही हम उसे भूखों मरता भी नहीं देख सकते। हमारा उद्देश्य यह होना चाहिए कि हम जितना आज पैदा करते हैं, उससे कहीं ज्यादा पैदावार करें; लेकिन यह ज्यादा पैदावार किसान के पास ही अपनी ज़रूरतें पूरी करने के लिए रहनी चाहिए, न कि बाजार में आकर कृषि-जन्य पदार्थों का मूल्य

हमारा लक्ष्य

घटाने के लिए गिरा दे।

इसी उद्देश्य को सामने रखते हुए हमारी यह सम्मति है कि शिक्षित, समझदार व संजीदा लोगों को किसानों में सामूहिक और मिश्रित खेती का प्रचार करना चाहिए।

सामूहिक खेती से हमारा मतलब यह है कि तमाम गाँव को किसानों की टुकड़ियों में बाँट दिया जाय और हर एक टुकड़ी के किसान एक साथ मिलकर अपनी खेती करें। जिन किसानों के खेत पास-पास हों, उन्हें इस ख़याल से कि ज्यादा अच्छे तरीक़े से खेती हो सके, मिला देना चाहिए और तमाम मजदूरी, पूँजी व औज़ारों को एक जगह इकट्ठा कर देना चाहिए, ताकि काफ़ी बड़ा खेत निकल आवे और छोटे-छोटे खेतों को, जिन्हें आजकल ठीक तौर से नहीं बोया जा सकता, ज्यादा अच्छी तरह काश्त किया जा सके। हर एक किसान को मेहनत व पूँजी के अनुपात से पैदावार में से हिस्सा मिलना चाहिए। इस तरह से फिर खेतों के एक स्थान पर एकत्री-करण की भी जरूरत महसूस न होगी। अच्छे औजार, बढ़िया बीज और सिंचाई आदि की सहूलियतें भी आसानी से प्राप्त की जा सकती हैं। अच्छी साख की वजह से रुपया भी, जो आजकल कम मिलता है, थोड़े सूद पर मिलने लगेगा। एक लाभ यह भी होगा कि भिन्न-भिन्न लोगों के अनुभव, समझदारी और मेहनत का भी एक साथ फ़ायदा उठाया जा सकेगा। इस पद्धति से न केवल आर्थिक लाभ होंगे, बल्कि और भी अप्रत्यक्ष लाभ मिल सकते हैं। किसान संगठन-शक्ति के महत्त्व को समझेंगे, उनको अनुकूल बाज़ार मिलेगा, वे बढ़िया माल पैदा कर सकेंगे और अपनी सन्तान की शिक्षा-दीक्षा की ओर ध्यान दे सकेंगे। मुकदमेबाजी की बीमारी दूर हो जायगी तथा उनका

सामूहिक खेती

भविष्य ज्यादा खुशहाल और आशाजनक हो जायगा। ज़िन छोटे-छोटे टुकड़ों से आज कोई लाभ नहीं हो रहा, वे भी बड़े खेत का अंग बन कर कुछ ज्यादा पैदावार देने लगेंगे।

सामूहिक खेती का ख्याल तो बहुत पुराना है और आज से ३० वर्ष पूर्व तक ग्रामों के अनेक खेती के कार्य सामूहिक रूप में हुआ करते थे। परन्तु आधुनिक समय में रूस देश में यह कार्य बड़े ज़ोर के साथ किया जा रहा है। हम पाठकों से अनुरोध करेंगे कि वे इसके सम्बन्ध में पूरी-पूरी जानकारी प्राप्त करें। इस छोटी सी पुस्तिका में इसका पूरा पूरा ब्योरा देना असम्भव है, तथापि हम वहाँ का कुछ थोड़ासा हाल लिख देना उचित समझते हैं।

रूस में ९९ फ़ीसदी खेती सामूहिक रूप से होती है। सन् १९१७ तक खेती करने वाले किसान अपने २ खेत जोतते थे। चाहे वे उनके स्वयं मालिक थे या ज़मींदारों से लगान पर लेते थे। रूस सरकार रुपये में विश्वास नहीं करती, प्रत्युत यह समझती है कि देश की सब वस्तुओं की मालिक वहाँ की सरकार या वहाँ रहने वालों का जनसमूह है। प्रत्येक मनुष्य को अपनी-अपनी योग्यता-नुसार कार्य करना चाहिये और प्रत्येक मनुष्य को उस की जरूरत के अनुसार वस्तुएं प्राप्त होनी चाहिये। इस प्रकार संसार में न कोई गरीब होगा और न अमीर। न कोई पूँजीपति होगा न कोई किसी वस्तु का मालिक। यह आयोजना क्रांति का मुख्य कारण थी। पुराने राज्यक्रम को समाप्त कर के पहिले तो सरकार ने बैंक, कारखानों आदि को अपने कब्जे में कर लिया और उस समय किसानों को अपने २ खेतोंका स्वामी छोड़ दिया गया, अलबत्ता बड़े-बड़े जमीदारोंकी जमीन तथा सम्पत्ति छीन-छीनकर सब किसानों में बाँट दी गई। यद्यपि सामूहिक खेतों में सरकारी नेताओं को पूर्ण विश्वास था, परन्तु १९२७ तक इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। इसके पश्चात् किसानों को सरकार की

ओर से यह शिक्षा दी गई कि वे अपने लाभ को स्वयं ध्यान में रख कर सामूहिक खेती आरम्भ करें। जो लोग ऐसा करेंगे, उन्हें सरकार मैशीन आदि से सहायता देती थी; परन्तु १६२८ तक इस में विशेष उन्नति न हो सकी। सरकार किसानों के विद्रोह से डरती रही और उसने किसानों को सामूहिक खेतीके लिये विवश करना उचित न समझा। १६२८ में जब सरकार ने यह देखा कि किसानों से अन्न आदि इकट्ठा करने में बड़ी कठिनाई होती है, तो उन्हों ने एकदम सामूहिक खेती की बड़े पैमाने पर नींव डाल दी और खाते-पीते किसानों को विवश किया गया कि वे साधारण ग़रीब किसानों के साथ मिलकर खेतीवाड़ी करें। इस विवशता का एक ओर तो यह परिणाम हुआ कि मालदार किसानों ने अपनी सम्पत्ति तथा बैल, गाय, घोड़ों को मार डाला और दूसरी ओर काफी ट्रैक्टरों तथा अन्य मशीनों का पूरा पूरा प्रबन्ध न होने तथा उचित प्रकार के सुशिक्षित आदमियों के न मिलने से सब कार्य अस्त व्यस्त हो गया। कहीं बीज न होने से खेत नहीं बोये गये। कहीं मशीन ठीक समय पर न मिलने से समय पर खेत न जोते जा सके, इत्यादि २। सन् २८ से ३३ तक का इतिहास बड़े दुःख का इतिहास है, जिस में किसानों को बड़े कष्ट उठाने पड़े। जो महानुभाव सामूहिक खेती में विश्वास रखते हों, उन्हें इस समय का इतिहास पढ़ने से वे सब त्रुटियां, जिन के कारण रूस में कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं, समझ में आजायँगी। उसके बाद से कार्य ठीक चल रहा है। अब सारे रूस के ६६ फीसदी खेत सामूहिक खेती द्वारा जोते जाते हैं। १००० एकड़ से प्रायः बड़े बड़े फार्म रूस में अधिकतया पाये जाते हैं। छोटे छोटे खेत सब मिलकर बड़े २ खेत बन चुके हैं। अलबत्ता किसानों की खाने पीने की अवस्था को देख कर अब प्रत्येक घर को थोड़ी थोड़ी धरती के बोने तथा कुछ दूध के मवेशी रखने का हक़ दे दिया गया है, जिस

से प्रत्येक किसान अपनी तरकारी तथा भोजन की सामग्री स्वयं पैदा कर सके। लाखों ट्रैक्टर अब रूस में चलाये जाते हैं और लाखों एकड़ रक़बा, जिस में कुछ भी पैदा न होता था, स्वादिष्ट अन्न फल पैदा करता है।

यद्यपि रूस जैसा विप्लव पैदा कर के यहाँ सफलता होने की आशा नहीं है और न इतने बड़े २ खेत यहां बनाये जाना और ट्रैक्टरों का उपयोग देश में लाभकारी हो सकता है, तथापि यदि छोटे २ किसान एक जगह मिल कर अपनी प्रसन्नता से कार्य करें तो खेती की उपज बहुत बढ़ सकती है, खेती करने के ढंग में उन्नति हो सकती है तथा रहन सहन का तरीका उत्तम हो सकता है और आने वाली संतान अधिक उपयोगी कार्य करने योग्य तथा खुशहाल बनाई जा सकती है।

मिश्रित खेती

मिश्रित खेती से हमारा मतलब यह है कि खेती के काम के साथ-साथ दूध, मक्खन, अण्डे आदि का धन्धा भी शुरू किया जाय। इस से किसान को कई लाभ होंगे। पहला लाभ तो यह है कि इस से किसान को भी दूध-दही मिलने लगेगा। यदि वह मक्खन बेच देंगे तो भी उसे मक्खन निकला दूध या छाछ मिलेगा, जो आज कल के बिल्कुल रद्दी भोजन से तो कहीं अच्छा है। मवेशियों के गोबर की शक्ल में उसे बढ़िया खाद भी मिलेगा। किसान और उस के परिवार को काम भी मिलेगा।

इस योजना पर दो ऐतराज़ किये जा सकते हैं। पहला तो यह कि किस तरह जुदा जुदा-ज़मीनों या किसानों को एक साथ मिलाया जा सकता है? यह कई तरीक़ों से किया जा सकता है। इन में सब से अच्छा उपाय को-आपरेटिव सोसाइटियां बनाना है, बशर्ते कि इन पर सरकारी अफ़सरों का नियंत्रण न हो। इस तमाम योजना की सफलता दरअसल इस बात पर निर्भर है कि लोग ख़ुशी-ख़ुशी इस में सम्मिलित हों। अपने आदर्श तक पहुंचने का यह

सब से कम ख़र्चीला उपाय है।

सामूहिक खेती का दूसरा तरीक़ा यह है कि किसान ज्वायंट स्टाक कम्पनियां बना लेवें। इस सूरत में सरकार रजिस्टरी की मामूली-सी फीस रख दे। रजिस्ट्रार ऐसी कम्पनियों के हिसाब-किताब की देख-भाल करता रहे, ताकि कोई गड़बड़ी न होने पावे।

इसमें दूसरा ऐतराज़ यह हो सकता है कि खेतों को मिला देने से बहुत-से किसान बेकार हो जावेंगे और इस तरह हमारा मूल उद्देश्य ही नष्ट हो जायगा; लेकिन इसीलिए हम सामूहिक खेती के साथ मिश्रित खेती की भी सलाह दे रहे हैं। हमारा ख़याल है कि सामूहिक और मिश्रित खेतियों को अलग-अलग नहीं किया जा सकता। एक के बग़ैर दूसरी में सफलता नहीं मिल सकती। सामूहिक खेती से बहुत-से किसानों की जो मेहनत बच जावेगी, उसके दो उपयोग हो सकते हैं। एक तो मिश्रित खेती, दूध, मक्खन, घी आदि का धन्धा; दूसरे नये साधनों और नई सुविधाओं के कारण खेती और भी बड़े पैमाने पर होने लगेगी, उसमें बेकार लोग लग सकेंगे। फ़सल पैदा करने का तरीक़ा भी बदल जायगा। आलू, गाजर, शलगम, प्याज़ आदि जड़ों वाली फ़सलें आजकल से ज्यादा पैदा करनी होंगी। इनके बोने से किसान और उसके मवेशियों को अच्छा भोजन भी मिल सकेगा। अलग-अलग स्थानों की परिस्थितियों के अनुसार इन सब पर और भी विचार किया जा सकता है। हर एक काश्तकार को, जो अपने हाथ या बैलों से खेती पर कोई भी काम करता है, मुआवज़ा नक़दी में न मिल कर पैदावार के रूप में मिलेगा। इसके भी दो कारण हैं। पहला तो यह कि इसमें आसानी से वेतन दिया जा सकता है। दूसरा कारण यह कि इससे किसान को अपने खाने और पहनने के लिए भोजन और

दूसरा ऐतराज़

रूई आदि मिल जायंगी। इसी उद्देश्य से तो यह योजना चलाई गई है। हमें इसमें रत्तीभर भी सन्देह नहीं कि यदि इस स्कीम पर निस्स्वार्थ और ईमानदार लोग सच्चे दिल से अमल करें तो इसमें सफलता ज़रूर मिलेगी और ग़रीब किसान की बहुत-सी मुसीबतें इससे दूर हो जावेंगी।

ज़मीन किसान की हो

किसान की उन्नति के लिए सबसे पहली और ज़रूरी चीज़ भूमि-व्यवस्था है। दुनिया के दूसरे सभी देशों में ज़मींदारी या सामन्तशाही करीब-करीब खतम हो चुकी है; लेकिन हिन्दुस्तान में अभी तक बदक़िस्मती से खूब फल-फूल रही है। भूमि-पद्धति में एक दम क्रान्तिकारी सुधार की आवश्यकता है। भारतवर्ष की खुशहाली में सबसे बड़ी रुकावट यह है कि यहाँ सब रुपया जायदादों में लगाया जाता है और फिर वहीं रुक जाता है। इसलिए न तिजारत के काम आता है, न उद्योग-धन्धों के। महाजन यह सोचते हैं कि जायदाद को रहन रख कर कर्ज़ ज्यादा सुरक्षित रहता है। इसका परिणाम यह होता है कि कुछ समय बाद वे खुद ज़मींदार बन जाते हैं और उनका रुपया ज़मीन-जायदाद में रुक जाता है अर्थात् वह रुपया किसी नये व्यापार या व्यवसाय में लगाने लायक़ नहीं रहता। हिन्दुस्तान के कई बैंक, जो ज्यादातर ताल्लुक़ेदारों व ज़मींदारों से लेन-देन करते हैं, एक अरसे बाद खुद बड़ी-बड़ी जायदादों के मालिक बन जाते हैं और इस तरह उनका सारा रुपया रुक जाता है तथा देश के धन्धों को बढ़ाने में ज़रा भी मदद नहीं मिलती और यह बैंक बन्द हो जाते हैं

भूमि परमात्मा की देन है और किसी राष्ट्र को उसे बिगाड़ने का, उसका दुरुपयोग करने का अधिकार नहीं है। यदि कोई देश भूमि का दुरुपयोग करता है, तो रुद्र प्रकृति का कठोर दण्ड भी उस देश को ज़रूर मिलता है। इसलिए वही भूमि-व्यवस्था सर्वो-

त्तम मानी जायगी, जिसमें भूमि राष्ट्र को ज्यादा-से-ज्यादा पैदावार दे। इसका सबसे अच्छा तरीक़ा यह है कि ज़मीन बोने वाले किसान की अपनी जायदाद होनी चाहिए। एक राष्ट्र की ख़ुशहाली के लिए यह ज़रूरी है कि किसानों को ज़मीन का मालिक बनाने के मूल-भूत सिद्धान्त को अमल में लाया जाय। कृषक-स्वामित्त्व (Peasant Proprietor ship) के असूल को पश्चिम के प्रायः सभी देशों ने अपनाया है। हमें भी यह अपनाना चाहिए।

बोलशेविज़्म नहीं

हम यह नहीं कहना चाहते कि ज़मींदारों को उनकी विरासत में मिली हुई या ख़रीदी हुई जायदाद से एकदम अलग कर दिया जाय। न यह अमली तरीक़ा ही है। हम व्यक्तिगत स्वामित्त्व के सिद्धान्त की क़दर करते हैं; लेकिन उसके साथ ही राष्ट्र या देश के हित के लिए व्यक्तिगत हितों के बलिदान के सिद्धान्त पर भी विश्वास रखते हैं। हमारी यह दृढ़ सम्मति है कि सरकार और लोगों को ज़मीन की मिलकियत ज़मींदारों के हाथ से निकाल कर किसानों के हाथ में करने का एक दृढ़ और निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए। सरकार की सहायता से इस काम में बहुत आसानी मिल सकती है। अगर किसानों को कम सूद पर रुपया मिल सके, जो उनसे ५०-६० सालों के अरसे में छोटी-छोटी क़िस्तों में वसूल किया जाय और जिस ज़मीन को वे काश्त करते हैं, उसे उचित मूल्य पर अदालतों के द्वारा ख़रीदने की आज्ञा हो तो बहुत थोड़े समय में बहुत-से किसान अपनी ज़मीनों के मालिक हो सकते हैं। कोर्ट आफ़ वार्ड्स भी इस बारे में बहुत मदद कर सकते हैं। वे नीलामी आदि द्वारा ज़मीन-जायदाद न बेच कर और उसके छोटे-छोटे टुकड़े करके किसानों को ही बेच सकते हैं। ऐसे किसानों को मूल्य चुकाने के लिए सरकार लम्बी क़िस्तों में वसूल करने की शर्त पर रुपया दे सकती है। आजकल जैसे किसान प्रति वर्ष

लगान देता है, उसी तरह दस-बीस या तीस साल तक लगान के साथ-साथ मूल्य की भी क़िस्त देता रहे, तो उतने अरसे बाद ज़मीन उसकी अपनी मिलकियत हो जायगी। ज़मींदारों के अधिकारों को बिना कोई चोट पहुँचाये ज़मीन की मिलकियत किसानों के हाथ में सौंपने के और भी कई तरीक़े निकल सकते हैं। ज़मींदार की अपनी काश्त के लिए एक वाजिब हिस्सा छोड़ कर बाक़ी सब ज़मीन किसानों को बेचने के लिए क़ानून द्वारा भी सहायता ली जा सकती है। यदि किसानों के स्वामित्त्व की नीति को स्वीकार कर लिया जाय, और आवश्यक क़ानून की सहायता से इस नीति पर ईमानदारी से अमल किया जाय, तो फिर किसानों के जोत की रक्षा आदि के लिए सुधारों की ज़रूरत ही न रहेगी।

बड़ी मशीनें नहीं

खेती के सुधार के सिलसिले में तरह-तरह की आधुनिक मशीनों को चालू करने के ख़याल का हम समर्थन नहीं करते। इन मशीनों के चालू करने का सब-से बड़ा परिणाम यह होगा कि बहुत-से आदमी बेकार हो जावेंगे। जिन देशों में मज़दूर कठिनता से मिलते हैं और मज़दूरी ज़्यादा देनी पड़ती है, वहाँ तो मेहनत बचाने वाली मशीन ज़रूर लाभ पहुंचा सकती है; लेकिन जिस देश में किसान साल में छः महीने बेकार रहता है या जहां बेकारी ५० फ़ीसदी तक पहुंच गई है, वहाँ मेहनत बचाने वाली मशीनों को जारी करना महज़ समय, धन और शक्ति का दुरुपयोग है।

सिंचाई

आबपाशी और खाद की सहूलियतें पहुंचा कर हम खेती की उन्नति में सहायक हो सकते हैं। खेती की उन्नति के लिए यह सब से ज़रूरी है कि नहरों से या अन्य साधनों से सिंचाई की सहूलियतें किसान को दी जावें। नहर सहकमे को यह बात दिल से निकाल देनी चाहिये कि किसान भी आमदनी का एक साधन है। नहरें किसानों के लिये हैं। सिंचाई की दर पैदा-

चार की क़ीमत और खर्च के लिहाज़ से नियत करनी चाहिये। नहरी पानी ठीक समय पर और उचित मात्रा में मिलने की व्यवस्था होनी चाहिये। सरकार का यह पहला फ़र्ज़ है कि वह कम खर्च में ज्यादा-से-ज्यादा कुएं बनवाये और उन से नलों के द्वारा पानी निकालने की कम खर्चीली योजना चालू करे। जब तक सिंचाई का ठीक इन्तजाम नहीं होता, तब तक खेती के औज़ारों व बीजों की उन्नति और तरह-तरह की रिसर्च के लिये भारी-भारी तनखा वाले अफ़सर रखना बिल्कुल फ़जूल सा है। खेती के सुधार के लिये सब से पहली और जरूरी चीज़ पानी है और इसलिये जब कभी किसान की उन्नति का कोई कार्यक्रम बनेगा, सिंचाई की सुन्दर व्यवस्था उसका पहला अँग होगी।

कृत्रिम वैज्ञानिक खाद हिन्दुस्तान में खूब बिकने लगेंगे, यह एक ऐसा स्वप्न है जो कभी पूरा नहीं होगा। रेलवे और सरकारी

खाद

अफ़सरों के वैज्ञानिक खाद को इतना उत्तेजन देने के बाद भी किसान उसे नहीं खरीदता। कितने अफ़सोस की बात है कि जिस देश में हवा से नाइट्रोजन प्राप्त करने के लिए सब अनुकूल परिस्थितियाँ मौजूद हों, वहां अब तक इस की जरा भी कोई कोशिश नहीं की गई कि पौदों को यह जरूरी खुराक किस तरह से प्राप्त हो। हमारे यहां शोरा और खारी काफ़ी तादाद में प्रायः सभी स्थानों पर पाये जाते हैं; लेकिन एक्साइज़ (कर-नीति) और रेलवे के कारण ये चीजें, जिन से इस देश की नाइट्रोजन-समस्या हल हो सकती थी, किसानों तक नहीं पहुंच पातीं। यद्यपि ये भारत की ही चीजें हैं लेकिन; इन्हें किसान की पहुंच के अन्दर खर्च में उसके दरवाजे तक पहुंचाने की कोई कोशिश नहीं की जाती। हड्डियां इस देश में बहुतायत से मिलती हैं; लेकिन वे भी लाखों मन की तादाद में हर साल विलायत भेज दी जाती हैं। अखिल भारतीय खेती बोर्ड की सिफ़ारिश के

बावजूद हड्डियों की निकासी नहीं रोकी गई। हैरानी तो यही है कि सभी कृषि-विशेषज्ञ अफ़सर नकली वैज्ञानिक खादों को दृष्टि में रख कर ही अपनी सारी कोशिशें करते हैं; लेकिन हिन्दुस्तान की देसी खादों की ओर कोई अँगुली तक नहीं उठाता। पाठकों को यह जानकर शायद कम आश्चर्य नहीं होगा कि वैज्ञानिक कृत्रिम खाद के मुकावले में पिसी हुई हड्डी, शोरा और खाद पर रेल का महसूल ज़्यादा लिया जाता है। हिन्दुस्तानी किसान के क्रियात्मक दृष्टिकोण से गोवर वग़ैरा बहुत बढ़िया खाद होती है। यह बहुत ही सादी और अपने तौर पर बिल्कुल मुकम्मिल होती है। सरकारी विशेषज्ञ भी इसे मन्जूर करते हैं; लेकिन अच्छे तरीक़े से इसे सड़ाने के लिये अब तक किसी क़िस्म की खोज करने की ज़रा भी किसी अफ़सर ने तकलीफ़ नहीं की। कृषि विभाग के अफ़सरों की समझ में साधारण बात नहीं आती कि किसान गोवर को अपनी मूर्खता से नहीं जलाता, प्रत्युत और कोई सस्ता ईंधन जबतक उसे नहीं मिलता, वह गोवर को ही ईंधन के लिये काम में लायेगा। अतः हमारा परिश्रम सस्ता ईंधन किसान को देकर गोवर को बचाने का होना चाहिए न कि किसान को मूर्ख बता कर अपनी मूर्खता का परिचय देना।

दूध घ का व्यापार

भारतवर्ष प्रायः शाकाहारी देश है, इसलिये इसकी समस्या का हल केवल मिश्रित खेती से हो सकता है। हमारी सब कोशिशें इसीलिये होनी चाहियें कि मिश्रित खेती लाभ-प्रद व्यवसाय हो जावे। इस से हमारी खाद की समस्या भी खुद-ब-खुद हल हो जावेगी। दूध देने वाले जानवरों की देख-भाल और दूध, दही, मक्खन का धन्धा तभी पनप सकता है, जब वनस्पति या मिलावटी घी दूध पर देश भर में कठोर नियंत्रण हो। मिलावटी दूध या अशुद्ध दूध के बारे में हम पहले भी लिख चुके हैं; लेकिन जब तक पूरी ताक़त के साथ इसे बिल्कुल खतम

नहीं किया जायेगा, तब तक दूध देने वाले मवेशियों के पालन और दूध, घी, मक्खन के धन्धे पर रूपया खर्च करना बिल्कुल बेकार है। सरकार को पहले मिलावट रोकनी चाहिये, फिर पशुओं की नस्ल में सुधार का प्रयत्न करना चाहिये। यदि मिश्रित खेती की योजना सफल न भी हो, तो भी स्वतन्त्र धन्धे के तौर पर दूध घी का धन्धा किसानों की आर्थिक उन्नति के लिये बहुत ही अधिक महत्वपूर्ण है। विदेशों में मिलावट को रोकने के लिये कितने जोर से प्रयत्न किये गये हैं, इसका उल्लेख हम पहले [प्रकरण ३ अध्याय ६ में] कर चुके हैं।

खेती के बारे में नई-नई खोजों का सवाल भी दर असल सिंचाई और खाद की उचित व्यवस्था के बाद ही किसानों के लिये कुछ फ़ायदेमन्द हो सकता है।

गाँव के धन्धों की उपयोगिता की हम पहले भी चर्चा कर चुके हैं। इनमें सबसे मुख्य धन्धा दूध, घी, मक्खन का धन्धा है,

गांव के धन्धे

जिसका हमने अभी जिक्र किया है। सब्जियों और फलों को सुरक्षित रखने व उन्हें टीन के डब्बों में बन्द करना भी एक बहुत लाभदायक धन्धा है। आज इस धन्धे को यहाँ बहुत आसानी से चालू किया जा सकता है। यद्यपि भारतवर्ष में हर साल ६०–७० लाख रुपये के टीनों में बन्द फल वगैरह आते हैं, फिर भी अबतक इधर कोई ध्यान नहीं दिया गया। भारतवर्ष में आम बहुतायत से पाया जाता है। अगर सरकार देश के हित को अपना हित समझती, तो जरूर वह आम की ओर बहुत ध्यान देती और दुनिया के दूसरे देशों में इसे भेजने का इन्तज़ाम करती, जिससे किसानों को करोड़ों रुपयों का फ़ायदा हो सकता था। बहुत कोशिशों के बाद मार्केटिंग बोर्ड क़ायम हुआ है और इसका हम स्वागत करते हैं; लेकिन सच तो यह है कि समुद्र में एक बूँद से ज्यादा इसका कोई लाभ

नहीं। साबुन, निशास्ता, सरेश, छिलके उतरे हुए जौ वग़ैरह कई छोटे बड़े धन्धे गाँवों में जारी किये जा सकते हैं। फलों के बाग़ और रेशम के कीड़े पालकर रेशम निकालना—ये दो धन्धे भी किसान जल्दी अपना सकता है और इनसे उसकी थोड़ी-सी आमदनी में काफ़ी सहायता मिल सकती है; लेकिन इन सब धन्धों की उन्नति के लिए इनकी ओर सरकार और सार्वजनिक नेताओं के लगातार प्रयत्न की सख्त ज़रूरत है।

सरकार यदि आर्थिक सहायता दे, तो गाँवों में खेती से सम्बन्ध रखने वाले कुछ और बड़े धन्धे भी सरकारी विशेषज्ञों की सलाह का फ़ायदा उठा कर चलाये जा सकते हैं। चीनी बनाना, निशास्ता बनाना, कागज़ के पट्ठे या गत्ते बनाना, ऐसे ही धन्धे हैं; लेकिन बदक़िस्मती से चीनी का धन्धा पूँजीपतियों ने अपना लिया है और किसानों को इससे कोई लाभ नहीं पहुँचा, हालाँकि सरकार ने विदेशी चीनी पर २०० फ़ीसदी तट-कर किसानों के हित की दुहाई देकर लगाया था। परन्तु गन्ने का भाव नियत न करने के कारण किसानों को फैक्टरियों की दया पर छोड़ दिया गया। हमें प्रसन्नता है कि पिछले दिनों से सरकार ने गन्ने के दाम नियत करके तथा तोल की देख-भाल करके किसानों की सहायता करना आरम्भ किया है, जिससे किसानों को उचित लाभ पहुँचने की आशा है।

: ३ :

सरकारें क्या कर सकती हैं ?

पिछले दो अध्यायों में हम ने किसान की आर्थिक स्थिति सुधारने के कुछ अप्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष उपायों पर विचार किया

है। इस से पहले भी हम ने सरकार की रेलवे-नीति, मुद्रा नीति तटकर, यातायात के साधन, सहयोग आन्दोलन, किसान-संगठन आदि अनेक ऐसे विषयों पर कुछ रोशनी डाली है, जिनपर किसान को ख़ुशहाल बनाने के लिये ध्यान देना ज़रूरी है। इस अध्याय में हम कुछ उपायों पर प्रकाश डालना चाहते हैं, जिन्हें विदेशों में किसानों की हालत सुधारने के लिये; किसान की आमदनी बढ़ाने या उस का ख़र्च कम करने के लिये वहाँ की हकूमतों ने अपनाया है। इन को हम नीचे लिखे सात भागों में बांट सकते हैं:—

(१) मुद्रा व विनिमय दर।

(२) विदेशी व्यापार पर नियंत्रण—

क—संरक्षण और तटकर,

ख—नियत मात्रा में व्यापार,

ग—निर्यात के लिये विदेशी बाज़ार।

(३) कृषिजन्य पदार्थों के न्यूनतम मूल्य का निर्धारण।

(४) देश के आन्तरिक व्यापार का नित्रयंण।

(५) सरकारी चिन्ह।

(६) व्यापारिक योजनायें, और

(७) ऋण-निवारण व साख में वृद्धि।

इन में से कुछ उपायों का अपने-अपने प्रसंग पर ज़िक्र हो चुका है, इसलिये उन उपायों का यहां हम निर्देश मात्र कर के यहीं तक अपने को सीमित रखेंगे कि विदेशी सरकारों ने किन-किन उपायों पर अमल किया।

ज्यादातर मुल्कों ने पिछले आर्थिक संकट के समय से अपने-अपने सिक्कों की क़ीमत प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष तौर पर कम कर दी है। कुछ सरकारों ने स्वर्णमान को छोड़ दिया है, तो कुछ ने विनिमय-दर को ही नीचा कर दिया है। संसार के सब से धनी देश संयुक्त

मुद्रा व विनिमय दर

राष्ट्र अमेरिका तक को आर्थिक संकट का मुक़ाबला करने के लिए स्वर्णमान छोड़ने के लिये विवश होना पड़ा। इंग्लैंड अपनी स्वर्णमान की मुद्रा-नीति पर बहुत घमण्ड करता था; लेकिन उसे भी स्टर्लिंग की क़ीमत कम करने के लिये स्वर्णमान छोड़ना पड़ा। आस्ट्रेलिया ने भी अपना विनिमय-दर कम कर दिया। जर्मनी ने यात्रियों और निर्यात आदि के लिये मार्क की क़ीमत कम कर दी है। डैनमार्क की सरकार ने भी, जिसकी आमदनी का मुख्य ज़रिया निर्यात व्यापार है, विनिमय-दर कम कर दिया है। जापान पर तो सारी दुनिया ही यह इल्ज़ाम लगाती है कि वह अपने सिक्के येन की क़ीमत बहुत गिराकर विदेशों में अपना माल बहुत सस्ते दामों में बेच रहा है। यह शायद पहला देश है, जिस ने भीषण आर्थिक संकट के समय में भी आश्चर्यकारक रीति से तमाम दुनिया में अपना व्यापार फैला लिया है; लेकिन हिन्दुस्तान में, जहां कि पहले ही रुपये की क़ीमत कृत्रिम रीति से बढ़ाने की शिकायत थी, इंग्लैंड के स्वर्णमान छोड़ने पर रुपये को फिर स्टर्लिंग से बांध दिया गया। यदि हम स्वतन्त्र होते, तो रुपया बाज़ार में अपनी क़ीमत स्वयं तलाश कर लेता। रुपये की क़ीमत बढ़ा कर उसे स्टर्लिंग के साथ बाँध देने का असर किसानों पर बहुत बुरा हुआ है। हिन्दुस्तान का निर्यात व्यापार मारा जा रहा है। इस कमी को भारतवर्ष से सोना बाहर भेज कर पूरा किया जारहा है। पिछले कुछ सालों में ३॥ अरब रुपये का सोना सदा के लिये हिन्दुस्तान से विदा हो गया है। और मज़ा यह है कि स्वर्ण-निर्यात को भी निर्यात के आँकड़ों में शामिल कर के भारत सरकार के अर्थ-सदस्य सदा गर्व के साथ भारतीय व्यापार की अनुकूलता सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। जब कि अन्य देश सोने के निर्यात पर ज्यादा-से-ज्यादा पाबन्दी लगा कर सोने की रक्षा करने का प्रयत्न कर रहे हैं, तब भारत सरकार अपने ज़बर-

दस्ती बांधे गये विनिमय-दर की रक्षा के लिये स्वर्ण-प्रवाह को उत्साहित कर रही है। कैसी है यह विडम्बना !

विदेशी व्यापार पर नियन्त्रण

किसी देश की आर्थिक उन्नति में विदेशी व्यापार बहुत अधिक सहायक होता है। निर्यात और आयात के आँकड़ों से ही हम विदेशी व्यापार के महत्त्व का अनुमान नहीं कर सकते। देश के उद्योग-धन्धों पर भी इसका प्रभाव कम नहीं पड़ता ; लेकिन हमारी बदकिस्मती और सरकार की उदासीनता से आज हमारे विदेशी व्यापार की हालत बहुत बुरी है। न केवल आँकड़ों की दृष्टि से, लेकिन इस दृष्टि से भी कि इससे देश के उद्योग-धन्धों को सहायता नहीं मिलती। हम कच्चा माल पैदा करते हैं; लेकिन उसे उसी रूप में बाहर भेज देते हैं और विदेशी व्यवसायी उस कच्चे माल की सैकड़ों चीजें बना कर हमारे हाथ बेच देते हैं और खूब नफ़ा कमाते हैं। भारत के विदेशी व्यापार में दूसरी बड़ी कमी यह है कि हमारा तमाम विदेशी व्यापार विदेशी जहाजी कम्पनियों और विदेशी बैंकों की मार्फत होता है। यदि भारतीय जहाजी कम्पनियाँ और संसार के तमाम बड़े-बड़े देशों में भारतीय एक्सचेंज बैंक हों, तो वे भारतीय उद्योग-धन्धों को तरक्की देने के लिए बहुत सहूलियतें दे सकते हैं। सरकार हमारे रास्ते में बाधक बनी हुई है। वह कभी भारतीय जहाज़ी कम्पनियों व बैंकों को उत्साहित नहीं करती। आज क्या यह कम हैरानी की बात है कि कृषि-प्रधान भारतवर्ष में तीन करोड़ रुपये से भी ज्यादा की भोजन-सामग्री आवे ? एग्रिकलचरल डिपार्टमेंट और एग्रिकलचरल रिसर्च कौंसिल पर भारतवर्ष का लाखों रुपया व्यय होता है; लेकिन इससे हमें लाभ ही क्या, जबकि विदेशों से आने वाले आलू, सेब, प्याज, मिर्च या दूसरे फलों व सब्जियों की आमदनी लगातार बढ़ती जा रही है। इनकी आमदनी पर निय-

न्त्रण लगाना ज़रूरी है। विदेशी व्यापार की उन्नति के लिए वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग करना चाहिए।

संरक्षण व तटकर—प्रत्येक देश का अपने बाज़ार पर पूरा अधिकार है। यदि कोई दूसरा देश अपना माल वाजबी से भी कम दामों में भेज कर उस देश के व्यापार को क्षति पहुँचाता है, तो उस देश को यह अधिकार है कि विदेशी माल पर तटकर लगा कर या उसका आना बिलकुल रोक कर अपने देश के आन्तरिक व्यापार की रक्षा करे। मुक्तद्वार के प्रधान समर्थक इंग्लैंड तक को आज यही नीति अपनानी पड़ी है। कुछ पदार्थों पर तो उसने ५० फ़ीसदी चुँगी लगाई है; लेकिन भारत में तो हालत बिलकुल उलटी है। यहाँ बहुत कम वस्तुओं पर चुँगी लगी हुई है।

नियत मात्रा—बहुत-से देश विदेशों से व्यापारिक संधि कर के यह निश्चित कर लेते हैं कि अमुक पदार्थ इस नियत मात्रा से अधिक नहीं मंगावेंगे और इसके बदले में हमारा यह पदार्थ इस नियत मात्रा में अवश्य मंगाना पड़ेगा। भारत ने भी ओटावा पैक्ट किया, और हाल ही में इन दिनों ब्रिटेन से एक नया समझौता किया है; लेकिन ये समझौते वस्तुतः सच्चे भारतीय प्रतिनिधियों द्वारा नहीं किये गये। इसलिए ये भारत के लिए अधिक प्रतिकूल हैं। ओटावा पैक्ट ने भारत का कम अहित नहीं किया। इंग्लैंड पर तो पाबन्दी बहुत कम लगी; लेकिन भारत को उससे बहुत बंध जाना पड़ा! असेम्बली के ओटावा पैक्ट को समाप्त करने का निश्चय करने के बाद भी सरकार इसे तीन साल तक इस नाम से चलाती रही कि नया कोई समझौता नहीं हुआ। अब जो नया समझौता किया गया है, वह भी भारत के अनुकूल नहीं है। असेम्बली के इसे रद्द कर देने पर भी गवर्नर जनरल ने उसे अपने विशेषाधिकार से पास कर दिया है।

विदेशों का बाज़ार—यद्यपि हम क़रीब २। अरब रुपये का

माल हर साल बाहर भेजते हैं, तथापि विदेशी व्यापार को संगठित करने का कोई बाक़ायदा प्रयत्न नहीं किया जाता। सभी लोग मनमाने तौर पर विदेशी व्यापार कर रहे हैं। न वे इस बात की चिंता करते हैं कि माल ठीक तरह से जाता है और न माल को वे अलग-अलग क़िस्मों में बाँटने की ही कोशिश करते हैं। फल यह होता है कि विदेशों में भारतीय माल बदनाम होता है। भारत सरकार का कर्तव्य है कि वह साख बिगाड़ने वाले व्यापारियों को दण्ड दे और सिर्फ़ उन्हीं को निर्यात व्यापार करने का अधिकार दे, जो ईमानदार हों और विदेशों में हिन्दुस्तान की साख बनाये रख सकें। हर एक माल को अलग-अलग श्रेणियों में बाँटने की व्यवस्था भी बहुत ज़रूरी है, जिस से व्यापारियों को जिस श्रेणी का माल मंगाना हो, वही मिल सके। ऐसा न हो कि वे बढ़िया माल चाहते हों और उन्हें घटिया माल मिल जावे। मिलावट को एक सख्त जुर्म करार देना चाहिए। इसी तरह यह भी देखने की ज़रूरत है कि विदेशों में किस-किस माल की ज़रूरत है; वे घटिया माल चाहते हैं या बढ़िया, किन दिनों में उन के पास माल की ज़्यादा माँग रहती है और किन दिनों में कम; कौन से विदेशी व्यापारी भारतीय माल को तरजीह देते हैं। इन सब की बाक़ायदा जाँच होनी चाहिए। विदेशी व्यापारियों की आवश्यकता के अनुसार हमें यहाँ फलों और सब्ज़ियों की खेती में उन्नति करनी चाहिए और विदेशों में भारतीय माल को मंगाने वाले व्यापारियों का संगठन करना चाहिए। भारत का केला संसारभर में सब से अच्छा होता है, हम बढ़िया संतरे, आम, सेब और नाशपाती पैदा करते हैं, फिर भी ये फल विदेशों से यहाँ आते हैं! हमें विदेशी व्यापारकी संस्थाओं का संगठन करना चाहिए, जिससे उपर्युक्त सब बातों का खयाल रक्खा जासके। वे भारत और विदेशी व्यापारियों में बाक़ायदा सम्बन्ध स्थापित करें; उनकी आवश्यकतायें जानकर

वैसा ही माल यहाँ पैदा करने और वहाँ भिजवाने की व्यवस्था करें; माल में खोट करने वालों को दन्ड दें। अमेरिका आदि कई देशों में ऐसी संस्थाओं से विदेशी व्यापारकी बहुत उन्नति हुई है।

हम पहले देख चुके हैं कि कृषिजन्य पदार्थों के दाम इतने कम हैं कि किसान को लाभ होने के बजाय नुक़सान हो रहा है। क़ीमतें बहुत कम हो गई हैं और किसान का ख़र्च बिलकुल नहीं घटा है। व्यवसायी लोग जब देखते हैं कि उनके कारख़ाने घाटा देरहे हैं, वे कारख़ाने बन्द कर देते हैं। लेकिन किसान ऐसा नहीं कर सकता। यदि वह भी घाटा देखकर खेती करना बन्द करदे तो सारा देश भूखा मर जाय। वह इतने सालों से समस्त आर्थिक हानि अपने सिर पर लादकर देश का पेट पालता आया है। जब कपड़े और लोहे के मिल-मालिक अपने माल का दाम बढ़ाने के लिए तटकर लगाने की मांग करते हैं, सम्पूर्ण देश से स्वदेशी के नाम पर कुछ घटिया व महँगा माल भी लेने की हृदयस्पर्शी शब्दों में अपील करते हैं तो किसान के माल का मूल्य बढ़ाने के लिए कुछ क्यों न किया जाय? सरकार का फ़र्ज़ है कि वह ऐसी व्यवस्था करे, जिससे कृषि-जन्य पदार्थों के दाम कुछ बढ़ जावें और उनका उत्पत्ति-व्यय कम हो जावे। इसके लिए विदेशी कृषि-जन्य पदार्थों पर तटकर लगाये जा सकते हैं और क़ानून द्वारा कृषि-जन्य पदार्थों के दाम ऊँचे किये जा सकते हैं। जबतक किसान की आमदनी उसके ख़र्च से ज्यादा नहीं होती, तबतक स्पष्ट ही है कि ग्रामोद्धार, खेती-विभाग आदि की बड़ी-बड़ी योजनाएँ किसान को कोई लाभ नहीं पहुँचा सकतीं। इंग्लैण्ड में क़ानून बना कर दूध, गेहूँ, चीनी आदि पदार्थों के कम-से-कम मूल्य नियत कर दिये गये हैं। ऐसे नये तरीक़े, ऐसी नयी फ़सलें किसान को बतानी चाहिए, जिनसे वह दरअसल कुछ कमा सके।

कम-से-कम क़ीमत

एक किसान की पैदावार का ८५ फ़ीसदी देश में ही खप

जाता है। जो थोड़ा-बहुत बाहर जाता भी है, वह भी देश के अन्दरूनी बाजार द्वारा। इसलिए जबतक देश के बाजार का सुधार नहीं किया जाता तबतक किसान की हालत नहीं सुधर सकती। बम्बई के फलों के बाजार की रिपोर्ट के अनुसार सिर्फ १२ फीसदी मूल्य किसान के पास जाता है और शेष ८८ फ़ीसदी मूल्य बीच के लोग खा जाते हैं। गेहूँ की रिपोर्ट यह है कि १) रु० में से सिर्फ ।।–)।। किसान को मिलता है। इसका अर्थ यह कि गाहक के दिये हुए रुपये का बड़ा भाग किसानों को मिल जाय तो उनकी हालत सुधर सकती है।

देश के आन्तरिक व्यापार का नियन्त्रण

किसान की बेबसी व जहालत, आढ़तियों की बेईमानी, बाजार की असुविधा तथा पैदावार में मिलावट आदि कुछ ऐसे कारण हैं, जिनसे किसान के पास पूरा रुपया नहीं पहुँच पाता। आढ़ती माल ज्यादा तौलकर, बातों-बातों में किसान को फुसला कर या जबर्दस्ती माल में कोई खराबी बताकर उसे कम दाम देते हैं। बहुत दफ़ा वह बीसियों तकलीफ़ें उठाकर अपना माल मण्डी में ले जाता है, वहाँ बुरी हालत देखकर, न बेचने की इच्छा होते हुए भी, उसे इसीलिए बेचना पड़ता है कि माल को फिर घर वापस लाने का खर्च और झंझट वह उठाना नहीं चाहता। मण्डी में उसका माल सुरक्षित रखने की कोई सहूलियत नहीं मिलती। इसी झंझट के कारण ज्यादातर किसान अपने घर पर ही सस्ते दामों में माल बेचना ज्यादा पसन्द करते हैं। जो लोग माल में मिलावट करके बेचते हैं, वे मूल्य को और भी नीचा गिरा देते हैं। बेईमानों के आजाने पर ईमानदारों को जगह छोड़नी ही पड़ती है। इसलिए यह ज़रूरी है कि सरकार मण्डियों का उचित संगठन करे कि जिससे मण्डियों में किसानों के माल की बिक्री में आढ़ती आदि कोई अनुचित उपाय या बेईमानी न कर सकें,

किसानों के माल आदि सुरक्षित रखने के स्टोर आदि की सहू-
लियतों का इन्तजाम करें; माल की परीक्षा आदि करके ऐसा
इन्तज़ाम करें कि बेईमान लोग घटिया-बढ़िया माल मिला
कर न बेच सकें और माल का वर्गीकरण करें जिससे बेईमानी न
हो सके। किसानों को तब आफ़त का सामना करना पड़ता है, जब
पैदावार तो बहुत हो और माँग थोड़ी हो। तब क़ीमतें बहुत कम हो
जाती हैं। विदेशों में ऐसे अवसरों पर निम्न उपाय बरते जाते हैं:—

क—कारख़ाने वालों को देशी कच्चा माल ही लेने के लिए
बाधित करना।

ख—ग़ैर-ज़रूरी पैदावार को इस क़दर घटिया कर देना कि
जिससे वह मनुष्यों के लायक न रहे और पशु उसे मज़े में खा
सकें। इसके लिए किसानों को कुछ मुआवज़ा दिया जाता है।

ग—बाजार-दर पर सरकार का पैदावार ख़रीद कर ग़रीबों
को कम दाम पर बेचना।

घ—ग़रीब लोगों को कम दाम पर पैदावार ख़रीदने की
इजाज़त देना और इसके बदले में किसानों को सहायता देना।

ङ—लोगों में खपत बढ़ाने का आन्दोलन करना।

च—कृषि-जन्य पदार्थों के उपयोग के नये-नये आविष्कार
करना।

इटली की सरकार ने जब देखा कि सन की बिक्री कम
होती है तब उसने उसे दूसरे ऐसे धागे में बदलने का प्रयत्न
किया जो रूई के धागे का मुक़ाबिला कर सके। इसके बाद
उसने बाहर से रूई का मंगाना बन्द कर दिया और अपने यहाँ
पैदा होने वाले सन का खूब उपयोग उठाया। यह कृत्रिम धागा और
रूई आज भारतवर्ष तक में आकर खपती है। भारतवर्ष में सर-
कार और जूट-विशेषज्ञ हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहे, जबकि दूसरे
देशों में जूट को नकली ऊन में बदल दिया गया। भारत सरकार

और रूई-कमेटी रूई से नकली रेशम बनाने की बजाय जापान से रूई खरीदने की सन्धि ही करती रही। हम और हमारी सरकार पुरानी लकीर से एक इंच भी नहीं हटना चाहते।

छ—विदेशी पदार्थों की जगह स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग।

ज—विभिन्न वस्तुओं के नये-नये उपयोग की जाँच के लिए कमेटी नियुक्त करना, ताकि विदेशों में उनके लिए बाज़ार तलाश किये जा सकें।

इनमें से कई उपाय यहाँ भी सरलता से बरते जा सकते हैं।

बहुत से देशों ने माल की शुद्धता की गारन्टी के लिए सरकारी चिन्हों की पद्धति चालू की है। सरकार अलग-अलग दरजे के लिए अलग-अलग सरकारी चिन्ह नियत कर देती है और किसानों या व्यापारियों को वे चिन्ह उस-उस दर्जे के माल के लिए देती है। कोई घटिया माल पर बढ़िया चिन्ह नहीं लगा सकता। सबसे पहले यह तरीका डैनमार्क में लागू हुआ था। इन सरकारी चिन्हों से न केवल अपने देश में, बल्कि विदेशों में माल की शुद्धता की गारन्टी हो जाती है और लोग निश्चिन्त होकर माल खरीदते हैं। इंग्लैंड ने भी यह तरीक़ा अपना लिया है। भारत भी इसे अपना सकता है। सरकार ने कुछ कार्य आरम्भ किया है; परन्तु वह इतनी मंदी चाल से हो रहा है कि उसका प्रभाव होने के लिए अभी वर्षों चाहिएँ। इससे पदार्थों के दाम कुछ महंगे ज़रूर होंगे, लेकिन सरकार मिल-मालिकों को मूल्य न बढ़ाने के लिए प्रेरित कर सकती है। बहुत दफ़ा एक बोर्ड वस्तुओं के दाम नियत करता है। इस बोर्ड में उत्पादकों व खरीदारों दोनों के प्रतिनिधि रहते हैं। इसमें यह ज़रूर देखना पड़ता है कि शासक या प्रबन्धकर्ता स्वयं ही कोई गड़बड़ी न शुरू कर दें। भारत सरकार ने घी, चावल आदि के लिए कुछ चिन्ह नियत किये हैं, पर अभी काम

सरकारी चिन्ह

नहीं के बराबर हुआ है।

इंग्लैंड तथा अन्य देशों में जुदा-जुदा माल के व्यापार को उन्नत और नियंत्रित करने के लिए व्यापारिक योजनाएँ चालू की गई हैं। हर एक माल के उत्पादन और बाज़ार की स्थितियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। इसलिए योजनाएँ भी अलग-अलग बननी चाहिए। इन योजनाओं में सभी पार्टियों का प्रतिनिधित्व रहना चाहिए।

व्यापारिक योजना

इस सम्बन्ध में हम पहले भी लिख चुके हैं। ऋण-निवारण करते हुए हमें दो-तीन बातों का ध्यान अवश्य रखना चाहिए।

ऋण-निवारण

पहली तो यह कि जहाँ हम उसे अत्याचारी महाजनों से बचावें, वहाँ उसकी साख का—उसे कर्ज़ मिलने की सहूलियत का भी प्रबन्ध कर दें। एक तरफ़ उसका पिछला भार हटावें और दूसरी ओर उसकी साख भी बढ़ावें। मियाद देते समय उसे स्पष्ट कर देना चाहिए कि उसका कर्ज़ माफ़ नहीं हो रहा है, सिर्फ़ आर्थिक संकट देखकर एक साल के लिए लेना मुल्तवी कर रहे हैं। किसान जितना दे सके, उससे ज़्यादा का भार उस पर न डाला जाय; लेकिन कम भी न डाला जाय। सरकारी सहायता भी उन्हीं लोगों को मिलनी चाहिए जो उसके सच्चे पात्र हों। जहाँ लेनदार को ऋण-निवारण के सिलसिले में कुछ नुकसान उठाना पड़ेगा, वहाँ तक़ावी बाँटनेवाली सरकार को भी इस सिलसिले में नुक्सान उठाने को तैयार रहना चाहिए। अनेक प्रान्तीय सरकारें कर्ज़ा-समझौता-बोर्ड बना रही हैं। साहूकारों पर नियन्त्रण के क़ानून भी बन रहे हैं। इनसे किसानों का भार कम होगा।